

4070

मुनि नथमत्त

अतुला  
तुला

जीवन-यात्रा बाहर और भीतर —दोनों का स्पर्श करती है। मैं मुनि हूँ, इसलिए मैंने बाह्य जगत् से अस्पृष्ट रहने का प्रयत्न किया है, फिर भी वस्तु-जगत् में जीने वाला कोई भी देहधारी बाह्य का स्पर्श किए बिना नहीं रहता। अन्तश्चेतना घटना से जुड़े या न जुड़े, किन्तु मन उसका स्पर्श और उसके फलितों का विश्लेषण भी करता है। प्रतिक्रिया से लिप्त होना या न होना अलग प्रश्न है, किन्तु उसका साक्षात् होता ही है। मैंने अन्तर्यात्रा भी की है, अन्तश्चेतना के आलोक में बाह्य जगत् को समझने का प्रयत्न किया है। मैं सिद्ध होने का दावा नहीं करता, इसलिए इस वास्तविकता को स्वीकार करता हूँ कि बाह्य-जगत् में घटित होने वाली घटनाओं से प्रभावित भी हुआ हूँ, उनके आघातों से आहत और प्रतिक्रियाओं से प्रताड़ित भी हुआ हूँ। प्रभाव, आहनन और प्रताड़ना के क्षणों में जो संवेदन जागा, भावनाएं प्रस्फुटित हुईं और वाणी ने मौन भंग किया, वही मेरा कवित्व है।

प्रस्तुत कृति के सभी श्लोक सहज स्फुरणा से स्फूर्त नहीं हैं। कुछ रचनाएं स्वतंत्र अनुभूति के क्षणों में लिखी गई हैं। उनके पीछे कोई घटना, प्रकृति का पर्यवेक्षण या कोई विशिष्ट प्रसंग नहीं है। उन रचनाओं को शुद्ध-काव्य कहने की अपेक्षा दर्शन-संपुटित काव्य कहना अधिक संगत होगा।

आशुकवित्व में समस्या और विषय से प्रतिबद्ध होकर चला हूँ। कुछ विद्वानों ने आश्चर्य-भाव से, कुछ ने चमत्कार-भाव से और कुछ ने परीक्षा-भाव से भी समस्याएं दीं। इसलिए उनकी पूति में कहीं-कहीं कविकर्म की अपेक्षा बौद्धिकता का योग अधिक है।

प्रस्तुत कृति में पैंतीस वर्षों (सन् १९४० से ७५) के अन्तराल में रचित रचनाएं संकलित हैं। देश-काल के परिवर्तन के साथ उनकी भाषा, शैली और अभिव्यंजना में भी अन्तर है। काव्य-रचना की पृष्ठभूमि में इतिहास की एक श्रृंखला है। अच्छा होता कि प्रत्येक प्रेरक स्फुरणा का इतिहास मैं लिख पाता। पर मैं वैसा कर नहीं पाया। परन्तु यह स्पष्ट है कि कवित्व स्फुरणा की फलश्रुति होता है।

अतुला तुला



आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

मुनि नथमल

अतुलातुला

अनुवादक/संपादक  
मुनि दुलहराज

आचार्यश्री तुलसी दीक्षा-कल्याण महोत्सव के उपलक्ष में

---

मूल्य : बारह रुपये / प्रथम संस्करण, १९७६ / प्रकाशक :  
कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक, आदर्श साहित्य संघ, चूरू  
(राजस्थान) / मुद्रक : रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

## आशीर्वचन

‘अतुला तुला’ संस्कृत भाषा की एक सजी-संवरी कृति है। इसका प्रारम्भ प्राकृत भाषा में है, किन्तु उसे आत्मनिवेदन की भूमिका पर प्रतिष्ठित मान लिया जाए तो असंस्कृत जैसा कुछ नहीं रहेगा।

मुनि नथमलजी हमारे धर्म-संघ के विशिष्ट मेधावी सन्तों में अग्रेगावा हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी की भांति देवभाषा संस्कृत भी इनके अधिकार में है। श्रुतज्ञान की सफलता उपासना के परिणामस्वरूप संस्कृत में ‘आशु कवित्व’ जैसी दुर्लभ क्षमता इन्हें सहज उपलब्ध है।

संस्कृत भाषा में मेरी अभिरुचि है। इस अभिरुचि की प्रेरणा से ही मैंने अनेक साधु-साध्वियों को इस क्षेत्र में निष्णात बनाने का स्वप्न देखा। मेरा स्वप्न फला। अनेक प्रतिभाएं प्रकाश में आयीं। प्रतिभाओं को प्रोत्साहन मिला और तेरापंथ संघ संस्कृत भाषा का विशेष केन्द्र बन गया।

मुनि नथमलजी द्वारा विभिन्न प्रसंगों पर संस्कृत भाषा में आवद्ध और आशु कविता के निर्झर से प्रवाहमान काव्य-संकलन की प्रस्तुति संस्कृत साहित्य की सुखद उपलब्धि है। संस्कृत भाषाविद् और संस्कृतानुरागी सुधी पाठक ‘अतुला तुला’ के पठन-पाठन से अपनी प्रतिभा को नई स्फुरणा दें इसी शुभ-कामना के साथ...

लाडनूँ

२०३२, फाल्गुन कृष्णा अष्टमी

आचार्य तुलसी





## स्व-कथ्य

शरीर में निवास करने वाला भगवान् है 'संयम' और मस्तिष्क में रहने वाला सद्विचार है 'परमात्मा'। सद्विचारों का संकलन ही संत-साहित्य है।

संत वह होता है जो जंगल में जाकर एकान्त साधना में जुट जाए। वह भी संत होता है जो भौतिक आकर्षणों के बीच रहता हुआ भी अनाकर्षित रहे। चारों ओर होने वाले तुमुल में जीता हुआ भी अशब्द रहे, बोलता हुआ भी मौन रहे और स्थिर रहता हुआ भी गतिमान् रहे।

संत गुनगुनाते हैं, वह स्तुति बन जाती है। वे लिखते हैं, वह आत्मा का प्रतिबिम्ब हो जाता है। उनकी वाणी और कर्म आत्म-प्रत्यक्षीकरण के लिए होते हैं। उनकी आराधना आनन्द के लिए होती है।

प्रस्तुत कृति 'अतुला तुला' में एक मनीषी योगी के तीस-पैंतीस वर्षों के अन्तराल में अभिव्यक्ति पाने वाले विभिन्न विचारों का संकलन है। मुनिश्री आशुकवि और प्रखर दार्शनिक हैं। इन्होंने अपनी आशुकवित्व के द्वारा संस्कृत के धुरन्धर विद्वानों को चमत्कृत किया है। तत्काल प्रदत्त विषयों पर संस्कृत-कविता में बोलना, प्रदत्त समस्याओं की तत्काल पूर्ति करना—इनकी अपनी विशेषता है।

पंडित-वर्ग कसौटी का हामी होता है। वह प्रत्येक को कसौटी पर कसता है। हम बनारस गए। संस्कृत महाविद्यालय के प्रांगण में प्रवचन आयोजित हुआ। 'स्याद्वाद' विषय पर पंडितों, प्राध्यापकों तथा विद्यार्थियों ने सुनना चाहा। मुनिश्री ने लगभग एक घंटे तक सहज सरल संस्कृत भाषा में प्रवचन किया। उपस्थित पंडितों में से कुछ प्रसन्न हुए और कुछ अप्रसन्न। उन्होंने मुनिश्री को प्रश्नों के कटघरे में ला खड़ा कर दिया। संस्कृत में ही प्रश्न और संस्कृत में ही उत्तर। क्रम चलता रहा। प्रश्नों के बाद आशुकवित्व के लिए विषय दिए गए। विषयों के पश्चात् समस्याएं दी जाने लगीं। मुनिश्री अविचल भाव से कविता करते गए। न वे थके और न ये थके। सारी परिषद् अवाक् और मन्त्रमुग्ध। परिषद् के सदस्यों ने देखा—एक जैन श्रमण संस्कृतज्ञों के गढ़ में आकर बिना

पराजित हुए चला जा रहा है। कुछ स्थितिपालक विद्वानों ने गुणगुनाया—‘इस संत ने कुछ सिद्धि प्राप्त कर रखी है।’ कुछ ने कहा—‘इसे कर्णपिशाचिनी का इष्ट प्रतीत होता है।’ कुछ ने कुछ कहा और कुछ ने कुछ। पंडितों में मानसिक द्वेष उभरा। वह वाणी में उतरा। कर्म में उसका प्रतिबिम्ब दृग्गोचर होने लगा। मुनिश्री शान्त और उपशान्त। सूर्यास्तमन की वेला। प्रति-क्रमण का समय। चुनौती। पांच-सात संत उसी प्रांगण में रह गए। रात्रि का आगमन। पंडितों की प्रतीक्षा। कोई नहीं आया। कुछ विद्यार्थी आए। उन्होंने कहा—‘महाराज ! आपने बाजी जीत ली।’

पूना। लोगों ने आचार्यश्री से निवेदन किया—‘आप यहां अधिक न रुकें। यहां विशेष कार्यक्रम न रखें। यह संस्कृतज्ञों की नगरी है। कहीं आपको आचार्यश्री के मन पर इस कथन का विपरीत असर हुआ। उन्हें अपनी शिष्य-संपदा की योग्यता पर पूरा विश्वास था। वह जाग उठा। कार्यक्रम आयोजित हुए। विद्यातिलकपीठ में कार्यक्रम रखा गया। सारा सभा-स्थल विद्वत् मंडली से भर गया। विद्वानों का मन कुतूहल से परिपूर्ण था। एक श्रमण नेता के सान्निध्य में यह पहली विशाल परिषद् थी। आचार्यश्री का प्रवचन हुआ। आचार्यश्री ने आशुकवि मुनि नथमलजी का परिचय दिया और आशुकवित्व के लिए विषय और समस्याएं देने के लिए विद्वानों से कहा। कई विषय और समस्याएं दी गईं। मुनिश्री ने आशु कविता की। सभी विद्वानों ने मुनिश्री की संस्कृत-साधना की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

इसी प्रकार वाग्वर्धनी सभा, पूना में एक आयोजन रखा गया। आचार्यश्री के प्रवचनोपरान्त डॉ० के० एन० बाटवे ने ‘घड़ी’ विषय पर स्रग्धरा छंद में आशु कविता करने के लिए मुनिश्री से अनुरोध किया। मुनिश्री ने तत्काल खड़े होकर चार श्लोक कहे। सारी सभा चिन्नवत्।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति में मुनिश्री की संस्कृत भाषा की स्फुट रचनाएं, जो विक्रम संवत् १९९८ से २०३२ के अन्तराल में रची गईं, संकलित हैं। रचनाओं के साथ रचना-काल और रचना-स्थल का निर्देश भी दे दिया गया है।

साहित्य-सर्जन मुनिश्री का प्रमुख कर्म नहीं है। प्रमुख कर्म है—आत्मा की सन्निधि प्राप्त करने का प्रयत्न। वह निरंतर चलता है। इस निरंतर गतिमत्ता में इन्होंने बहुत पाया और बहुत दिया। इन्होंने दिया ही दिया है, लिया कुछ भी नहीं। यदि कहीं कुछ लिया भी है तो उसे हजार गुना कर पुनः लौटा दिया।

ये समर्पित हैं। इनका समर्पण प्रत्यादान की भावना से रहित है, इसीलिए वह मूक है। व्यवहार यह मानता है कि इस योगी मनीषी ने दिया अधिक, लिया कम।

यह लेखा-जोखा व्यवहार का है। आत्मा की सन्निधि पाने के इच्छुक साधक में वह नहीं होता। वह चलता है अपनी गति से और फलता है अपनी मति से।

मुनिश्री पुरुषार्थ के प्रतीक हैं। इनका पुरुषार्थ तीनों आराधनाओं में प्रखर हुआ है—

१. इन्होंने अपने ज्ञान को आत्मा से अनुबंधित कर ज्ञान की आराधना की।
२. इन्होंने अपनी श्रद्धा को आत्मा में केन्द्रित कर दर्शन की आराधना की।
३. इन्होंने समस्त कर्म को आत्मा की परिक्रमा में प्रेरित कर चारित्र्य की आराधना की।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना में अपना समूचा जीवन समर्पित कर स्वयं के साथ-साथ इन्होंने समूचे तेरापंथ संघ को लाभान्वित किया है।

इन रचनाओं में शाश्वतिक सत्य भरा है। अध्यात्म और जीवन-दर्शन का समन्वय उसका एक बिन्दु है। यह बिन्दु एक बिन्दु होकर भी सिन्धु-सा गहरा और विशाल है। अध्यात्म से हटकर हम इनकी रचनाओं की व्याख्या नहीं कर सकते।

इन दो दशकों में मुनिश्री की पचास-साठ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। प्रकाशित साहित्य बहु-आयामी है। हिन्दी में आपने बहुत लिखा। संस्कृत में तीन ग्रन्थ—मुकुलम्, अश्रुवीणा और संबोधि—प्रकाशित हो चुके हैं और यह चौथा ग्रन्थ है। अनेक ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। प्राकृत भाषा में अनेक स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त 'तुलसी मञ्जरी' के नाम से प्राकृत भाषा का एक व्याकरण-ग्रन्थ रचा। वह भी अप्रकाशित है।

वर्तमान में आचार्य तुलसी के वाचनाप्रमुखत्व में संचालित जैन आगम अनुसंधान कार्य के आप प्रधान निर्देशक और विवेचक हैं। आगम-ग्रन्थों के आधुनिक संपादन और विवेचन के लिए जैन जगत्, विशेषतः तेरापंथ संघ, आपकी सेवाओं को कभी नहीं भुला जाएगा।

चिरकाल से मेरी यह अभिलाषा थी कि मुनिश्री के स्फुट संस्कृत साहित्य का मैं अनुवाद करूं। आज मेरी यह अभिलाषा पूर्ण हुई है। इस कार्य में मैं कहां तक सफल हुआ हूं, यह पाठक ही बता पायेंगे।

सरस्वती के वरद पुत्र की साहित्यिक उपलब्धियों का शत-शत अभिनन्दन।

लाडनू

२०३२ फाल्गुन

मुनि कुलहराज



## प्रस्तावना

मैं ग्यारह वर्ष की अवस्था में मुनि बना था और तब से ही पदयात्री। जीवन-यात्रा बाहर और भीतर—दोनों का स्पर्श करती है। मैं मुनि हूँ इसलिए मैंने बाह्य-जगत् से अस्पृष्ट रहने का प्रयत्न किया है, फिर भी वस्तु-जगत् में जीने वाला कोई भी देहधारी बाह्य का स्पर्श किए बिना नहीं रहता। अन्तश्चेतना घटना से जुड़े या न जुड़े, किन्तु मन उसका स्पर्श और उसके फलितों का विश्लेषण भी करता है। प्रतिक्रिया से लिप्त होना या न होना अलग प्रश्न है, किन्तु उसका साक्षात् होता ही है। मैंने अन्तर्यात्रा भी की है, अन्तश्चेतना के आलोक में बाह्य-जगत् को समझने का प्रयत्न किया है। मैं सिद्ध होने का दावा नहीं करता, इसलिए इस वास्तविकता को स्वीकार करता हूँ कि बाह्य-जगत् में घटित होने वाली घटनाओं से प्रभावित भी हुआ हूँ, उनके आघातों से आहत और प्रतिक्रियाओं से प्रताड़ित भी हुआ हूँ। प्रभाव, आहनन और प्रताड़न के क्षणों में जो संवेदन जागा, भावनाएं प्रस्फुटित हुईं और वाणी ने मौन भंग किया, वही मेरा कवित्व है।

मैं बहुत छोटे गांव (टमकोर—राजस्थान) में जन्मा था। उस जमाने में वहां पढ़ाई का कोई खास प्रबंध नहीं था। मैं और मेरे कुछ साथी गुरुजी की पाठशाला में पढ़ते थे—न हिन्दी और न संस्कृत, केवल पहाड़े। मुनि बनते ही पढ़ाई का क्रम शुरू हुआ। मैं प्राकृत और संस्कृत के ग्रन्थ पढ़ने लगा। पूज्य कालगणी के निर्देशानुसार मुनि तुलसी (वर्तमान में आचार्य तुलसी) मेरे अध्यापक बने। उस समय अध्यापन-परिपाटी में ग्रन्थों को कंठस्थ करने पर अधिक बल था। मैंने कुछ ही वर्षों में अनेक ग्रन्थ कंठस्थ कर लिये, पर समझने की क्षमता विकसित नहीं हुई। सोलह वर्ष की अवस्था पार करते-करते मैंने कुछ विकास का अनुभव किया। संस्कृत भाषा में कुछ-कुछ बोलना और लिखना शुरू हुआ। सतरहवें वर्ष में कुछ श्लोक बनाए। अब मुनि तुलसी आचार्य बन चुके थे। उनके आचार्य-पदारोहण का दूसरा समारोह था। उस समय वे श्लोक मैंने पढ़े। मंत्री मुनि मगनलालजी

स्वामी ने मुझे बहुत प्रोत्साहित किया। उस प्रोत्साहन से संस्कृत में लिखने की रुचि बढ़ गई। फिर कुछ ऐसा बना कि मैं प्रायः संस्कृत में ही लिखने लगा।

प्रस्तुत संकलन में इक्कीस वर्ष की अवस्था से अब तक—पैंतीस वर्ष की स्फुट रचनाएं संकलित हैं। इनके पीछे एक इतिहास की शृंखला है। अच्छा होता कि प्रत्येक रचना की पृष्ठभूमि में रही हुई स्फुरणा का इतिहास मैं लिख पाता। पर काल की इस लम्बी अवधि में जो कुछ घटित हुआ वह पूरा का पूरा स्मृति-पटल पर अंकित नहीं है। जो कुछ अंकित है उसको लिपिबद्ध करने का भी अवकाश मैं नहीं निकाल पाया। कुछेक स्फुरणाओं को मैं उल्लिखित करना चाहता हूं। उनके आधार पर यह समझा जा सकता है कि कवित्व स्फुरणा की फलश्रुति होता है।

मैं एक कमरे में बैठा था। सामने छोटे से छज्जे पर कबूतर बंठे थे। सूर्यास्त हो चुका था। अंधेरा गहरा हो रहा था। कबूतर उस छोटे-से छज्जे पर अपने पंजे टिकाकर पर फड़फड़ा रहे थे। उस फड़फड़ाहट ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। उसी समय मैं संवेदना के स्वर में बोल उठा—

“अनन्तलीला प्रथमे क्षणे तु,  
छदों गृहाणां स्थितिहत्तरस्मिन् ।  
दिने च रात्रौ च कियान् प्रभेद,  
इदं कपोता हि विदन्ति नान्ये ।”

‘पहले क्षण में अनन्त आकाश में उड़ने वाले ये कबूतर दूसरे क्षण में घर के छोटे से छज्जे पर आ बैठते हैं। दिन और रात में कितना अन्तर होता है—इसे कबूतर (या पक्षी) ही समझ सकते हैं। दूसरे नहीं समझ सकते।’

मैं एक बार शीच के लिए जा रहा था। जैसे ही गांव को पार कर बाहर गया वैसे ही एक गधा रेंकता हुआ सामने आया। उसकी ध्वनि बड़ी कर्कश थी। वह कान के पर्दों को बीधती हुई भीतर जा रही थी। मैं उससे आहत हुए बिना नहीं रहा। मैंने उस गधे को सम्बोधित करते हुए कहा—

“रे रे खर ! तूष्णीं भव,  
दृष्टं तवककौशलम् ।  
दुर्लभा वाग्मिता चेत्ते,  
कणौ किं सुलभौ नृणाम् ॥”

—गधे ! मौन हो जा। मैंने तेरा वाक्-कौशल देख लिया। यदि तेरा वाक्-कौशल दुर्लभ है तो क्या मनुष्यों के कानों के पर्दे सुलभ हैं ?

मैं आचार्यश्री तुलसी द्वारा रचित ‘जैन सिद्धान्त दीपिका’ का सम्पादन कर रहा था। किसी गहन विषय की स्पष्टता के लिए अनेक ग्रन्थ देखने पड़े।

लगातार घंटों तक मैं समस्या में उलझा रहा। फलतः थकान से चूर हो गया। उस समय मैं नगर के बाहर बगीचे में गया और थकान मिटाने के लिए कुछ श्लोक बनाए। उनमें से एक श्लोक यह है—

“आनन्दस्तव रोदनेऽपि सुकवे ! मे नास्ति तद्व्याकृतौ,  
दृष्टदर्शनिकस्य संप्रवदतो जाता समस्यामयी।  
किं सत्यं त्वितिचिन्तया हृतमतेः ष्वानन्दवार्ता तव,  
तत् सत्यं मम यत्र नन्दति मनो नैका हि भूरावयोः ॥”

दार्शनिक का प्रतिनिधित्व करते हुए मैंने कवि से कहा—‘कविशेखर ! तुम्हारे रोने में भी आनन्द है और आनन्द की व्याख्या करने में भी मुझे आनन्द नहीं आता। मैं जैसे-जैसे आनन्द को समझने और उसकी व्याख्या करने का प्रयास करता हूँ, वैसे-वैसे मेरी दृष्टि समस्याओं से भर जाती है।’

कवि ने कहा—‘दार्शनिक ! तुम इस बात में उलझ जाते हो कि सत्य क्या है। तुम्हारी बुद्धि उसी में लग जाती है। तुम्हारे लिए आनन्द की बात ही कहां ? किन्तु मेरा अपना सूत्र यह है कि जिसमें मन आनन्दित हो जाए, वही सत्य है। इससे मेरे लिए सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। दार्शनिक ! तुम्हारी और मेरी भूमिका एक नहीं है।’

प्रस्तुत संकलन के सभी श्लोक सहज स्फुरणा से स्फूर्त नहीं हैं। आशुकवित्त्व में समस्या और विषय से प्रतिबद्ध होकर चला हूँ। कुछ विद्वानों ने आश्चर्यभाव से, कुछ ने चमत्कारभाव से और कुछ ने परीक्षाभाव से भी समस्याएं दीं। इसलिए उनकी पूर्ति में कहीं-कहीं कविकर्म की अपेक्षा बौद्धिकता का योग अधिक है। विषयपूर्ति में छन्द की प्रतिबद्धता नहीं होती किन्तु समस्यापूर्ति में छन्द भी प्रतिबद्ध होता है।

कुछ रचनाएं स्वतंत्र अनुभूति के क्षणों में लिखी हुई हैं। उनके पीछे कोई घटना, प्रकृति का पर्यवेक्षण या कोई विशिष्ट प्रसंग नहीं है। उन रचनाओं को शुद्ध काव्य कहने की अपेक्षा दर्शन-संपुटित काव्य कहना अधिक संगत होगा।

इस संकलन में अनेक क्षणों में रचित रचनाएं संकलित हैं। देश-काल के परिवर्तन के साथ उनकी भाषा, शैली और अभिव्यंजना में भी अन्तर है। आचार्यश्री तुलसी ने विभिन्न प्रदेशों की यात्राओं में आशुकवित्त्व को अधिक व्यापक बना दिया। अनेक आशुकविताएं सुरक्षित नहीं रह सकीं। आचार्यश्री के प्रवचन के विशेष आयोजन होते। उनमें प्रायः आशुकवित्त्व का उपक्रम रहता। आचार्यश्री का प्रोत्साहन होता और लोगों की मांग। इसलिए यह स्वाभाविक ही था। बहुत सारे रात्रिकालीन आयोजनों में की हुई रचनाएं लिखी नहीं जातीं और सामान्यतः

उन्हें संकलित करने का निश्चित दृष्टिकोण भी नहीं था। भरतपुर में रात्रिकालीन प्रवचन के पश्चात् एक पंडित ने आशुकवित्त्व के लिए एक समस्या दी थी— 'सूचघ्ने कूपशतकं तदुपरि नगरी तत्र गंगाप्रवाहः।' इसकी पूर्ति में की गई आशु कविता तत्काल कोई लिख नहीं सका। इस प्रकार अनेक समस्याओं की पूर्तियां भी लिपिबद्ध नहीं की जा सकीं। जो कुछ संकलित हुई वे इस संकलन में प्रस्तुत हैं।

आचार्यश्री तुलसी से मुझे विद्यादान मिला। वे मेरे विद्या-गुरु हैं और आचार्य भी हैं। बीज-द्वयन और विकास—दोनों में उनका योग है। उनकी प्रेरणा ने मुझे सतत विकासोन्मुख किया है। उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने की अपेक्षा मैं आन्तरिक समर्पण को ही अधिक महत्त्व देता हूँ। उनका पथ-दर्शन, अनुग्रह और आशीर्वाद मुझे प्राप्त है, इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ।

मुनि शुभकरणीजी और मुनि श्रीचन्दजी ने अनेक रचनाओं को संकलित किया, फलतः उनका उपयोग हो सका। अतः ये दोनों मुनि साधुवादाहं हैं।

इस पुस्तक का अनुवाद और संपादन मुनि दुलहराजजी ने किया है। अनुवाद प्राञ्जल भाषा, मूलस्पर्शी शैली और आशय की स्पष्टता—इन तीनों विशेषताओं के साथ हुआ है। वे मेरे अनेक ग्रन्थों का अनुवाद और संपादन पहले भी कर चुके हैं। अतः संपादन-भार से मैं मुक्त रहता हूँ, इसका श्रेय उन्हें सहज-लब्ध है।

आचार्यश्री तुलसी के 'दीक्षा कल्याण महोत्सव' के अवसर पर पुरानी स्मृतियों के साथ संस्कृत जैसी प्राचीन भाषा में काव्य को नई प्रतिभाओं के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मैं प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ।

लाडनूँ

मुनि नथमल

२०३२, फाल्गुन कृष्णा पंचमी



# अनुक्रम

## प्रथमो विभागः—विविधा

१. अष्पनिवेदणं	३
२. निमेषोन्मेषाः	१०
शून्यम्	१०
निद्रा	१०
स्नेह	११
दम्भ	१२
छिद्रम्	१२
अवलेप	१२
विजेता	१३
असंग्रह	१३
३. स्वतन्त्रताया विवेकः	१५
४. स्वतन्त्रभारतगीः	१७
५. विनयपत्रम्	१६
६. मेघाष्टकम्	२३
७. समुद्राष्टकम्	२६
८. दुर्जनचेष्टितम्	२६
९. पितृप्रेम	३१
१०. निकषरेखा	३३
दीप	३३
सूर्य	३४
तटस्थ	३५
लक्ष्मी	३५

लाघवम्	३६
विवेक	३६
माधुर्यम्	३७
कवि-दार्शनिकसंगमः	३७
महतां कष्टम्	३८
जाड्यम्	३८
कियान् प्रभेदः ?	३८
प्रकीर्णम्	३९
१. विश्वासात्मा	४४
२. पद्मपञ्चदशकम्	४६
३. अनुभवसप्तकम्	५०
४. जयपुरयात्रा	५३
५. रणथंभोरयात्रा	६१
६. पुण्यपापम्	६८
७. आत्मतुला	७२
८. कथाश्लोकाः	७४

### द्वितीयो विभागः—आशुकवित्त्वम्

प्रदत्त विषयानुबद्धम्	७६
१. एकता	७६
२. ताजमहल	७६
३. त्रिचक्षु	८०
४. गंगानहर	८१
५. आवर्त	८२
६. विद्वत्सभा	८३
७. घटीयन्त्रम्	८५
८. संस्कृत भाषाया विरोधः	८७
९. मृतभाषा	८९
१०. क्रीडांगण	९०
१. संस्कृति	९०
२. त्रिवेणीसंगम	९१
३. हिंसा-अहिंसा	९३

१४. अणुत्वं कथं स्यात् ?	६४
१५. राष्ट्रसंघ	६५
१६. मिलन	६६
१७. वैभार पर्वत और भगवान् महावीर	६६
१८. सम्मेदशिखर	६८
१९. दीपमालिका	६८
२०. नैतिकता-अनैतिकता	१००
२१. लोकतन्त्र का उदय	१०१
२२. आत्मबोध	१०२
२३. भावना	१०३
२४. मणिशेखर चोर	१०४
२५. समुद्र और वृक्ष-लयन	१०६
२६. अहिंसायां अपवादः	१०७
२७. तुलना	१०८
२८. सामञ्जस्य	११०
२९. विषयद्वयी	१११
अपरा-परा विद्या	११२
भूकम्प	११३
३०. नयवाद	११५
३१. कलाक्षेत्र	११७
३२. त्रिनेत्र	११९
३३. अदृश्य-दर्शन	११९
३४. कलश	१२१
३५. समागमन	१२१
३६. समाधि	१२२
३७. मैसूर राजप्रासाद	१२२
३८. बाहुबली	१२४
३९. वाक्-संयम	१२५
२. समस्यापूर्तिरूपम्	१२७
१. दुर्जया वत ! बलावलिप्तता	१२७
२. वसन्ति हि प्रेमिणि गुणा न वस्तुषु	१२७
३. गीतं न गायतितरां यवतिनिशासु	१२८

४. न खलु न खलु वाच्यं सन्ति सन्तः कियन्तः	१२८
५. मूकोऽपि कोऽपि मनुजः किमु वाक्पटुः स्यात् ?	१२९
६. दिशि प्रतीच्यां समुदेति भानुः	१२९
७. मशकदशनमध्ये हस्तिनः सञ्चरन्ति	१३०
८. कालीकज्जलशोणिमा धवलयत्यर्धं नभोमण्डलम्	१३०
९. सभामध्ये न कोकिला	१३१
१०. चित्रं दिवापि रजनी रजनी दिवा च	१३१
११. कर्दन्त्यमी मानवाः	१३२
१२. सरस्यामालस्यादिव पतति पाटीरपवनः	१३३
१३. न रजनी न दिवा न दिवाकरः	१३३
१४. महाजनो येन गतः स पन्थाः	१३४
१५. अस्ति स्तः सन्ति कल्पनाः	१३४
१६. चन्द्रोदये रोदिति चक्रवाकी	१३५
१७. कथं भवेद् नो जठराग्निशान्तिः	१३५

### तृतीयो विभागः—समस्यापूर्तिः

१. मणे ! भावी तूर्णं पुनरपि तवातुच्छमहिमा	१३६
२. किं तथा किं तथा किं तथा किं तथा ?	१३६
३. कथं कान्ते दान्ते गलितवदनाभा नववधूः ?	१४०
४. कथं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधर ?	१४१
५. मोदन्ते मुनयो मनोबलजुषः कष्टेष्वनेकेष्वपि	१४३
६. गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम्	१४५
७. सिन्दूरबिन्दुविधवाललाटे	१४७
८. मेघे वर्षति वेगवाहिनि कथं दौर्भिक्ष्यसंभावना ?	१४९
९. कियच्चित्रं वाग्मी भवति बत ! मूकोऽपि मनुजः	१५०
१०. ब्राह्मणस्य महत्पापं, संध्यावंदनकर्मभिः	१५२
११. साम्यं काम्यं प्रकृतिरूचिरं क्वापि वक्रं विभाव्यम्	१५२
१२. सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्तः	१५३
१३. विषममसिधारात्रतमिदम्	१५५
१४. कस्यात्यन्तं सुखमुपगतं दुःखमेकान्ततो वा	१५६
१५. भवेद् वर्षारम्भः प्रकृतिपुलको मोदजनकः	१५७

१६. जदः सामान्योऽयं कथमिव विजानीत सहसा	१५८
१७. न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति	१५९

### चतुर्थो विभागः—उन्मेषाः

१. सत्संगाष्टकम्	१६३
२. अध्ययनस्मृतिः	१६६
३. कोऽयं सत्सङ्गः ?	१६९
४. वीतरागाष्टकम्	१७२
५. तेरापथचतुर्विंशतिः	१७५
६. आत्मदर्शन-चतुर्दशकम्	१८५
७. भक्तिविनिमयः	१९०
८. महावीराष्टकम्	१९३

### पञ्चमो विभागः—स्तुतिचक्रम्

१. जैनशासनम्	१९९
२. महावीरो वर्द्धमानः	२०२
३. भाचार्यस्तुतिः	२०५
४. सिद्धस्तवनम्	२१०
५. भिक्षुगुणोत्कीर्तनम्	२१३
६. कालूकीर्तनम्	२१५
७. तुलसीस्तवः	२१७



प्रथमो विभाग

**विविधा**





## १ : अप्पनिवेदणं

सामण्णमेयं गहियं ति जाणे,  
किमट्ठमेयं गहियं न जाणे ।  
नाणं न सब्वत्थपवत्तगं जं,  
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ॥१॥

‘श्रामण्य स्वीकार किया है’—यह मैं जानता हूँ, किन्तु यह नहीं जानता कि मैंने श्रामण्य क्यों स्वीकार किया ? ज्ञान सभी अर्थों का प्रवर्तक नहीं होता । श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है ।

बालत्तणे गाम अणाच्छयत्थे,  
कज्जं कयं णो परिणामदंसी ।  
मग्गावरोहो न कुहावि लद्धो,  
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ॥२॥

निश्चय करने में अक्षम बचपन में मैंने अनेक कार्य किए हैं । मैं उस समय परिणामदर्शी नहीं था । फिर भी मेरा मार्ग कहीं भी अवरुद्ध नहीं हुआ । श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है ।

विसिट्ठनाणी वि विणीयसीसो,  
अच्चं च निच्चं गुरुणो करेइ ।  
नाणं न सब्वत्थपवत्तगं जं,  
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ॥३॥

विनीत शिष्य विशिष्ट ज्ञानी होने पर भी सदा गुरु की अर्चा करता है । क्योंकि ज्ञान सभी अर्थों का प्रवर्तक नहीं होता । श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है ।

## ४ अतुला तुला

बहुस्सुओ भिक्खुवरो करेइ,  
गिलाणकज्जं अगिलाणभावा ।  
नाणं न सव्वत्थपवत्तगं जं,  
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ॥४॥

बहुश्रुत भिक्षु ग्लान की सेवा अग्लान भाव से करता है । ज्ञान सभी अर्थों का प्रवर्तक नहीं होता । श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है ।

तक्कप्पहाणो वि महामणीसी,  
बुद्धस्स पुज्जस्स सुयप्पगस्स ।  
आणं अखंडं पकरेइ सक्खं,  
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ॥५॥

तर्क-प्रधान महामनीषी शिष्य भी अल्पश्रुत अपने वृद्ध पूज्य की आज्ञा का साक्षात् रूप से अखंड आराधन करता है । श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है ।

णाणेण हं णाणुसओ म्हि णिच्चं,  
सद्धा उ णिच्चं अणुचारिणो मे ।  
वत्तो पि हं तेण इणं च मन्ने,  
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ॥६॥

ज्ञान ने मेरा सदा अनुसरण नहीं किया, किन्तु श्रद्धा सदा मेरी अनुचारिणी रही है । अतः मैं व्यक्त होने पर भी यह मानता हूँ कि श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है ।

न जत्थ नाणं कुणई पगासं,  
निच्चंधयारे गुविले मणस्स ।  
तत्थावि सद्धा कुणई पगासं,  
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ॥७॥

सदा सघन अन्धकार से व्याप्त मन के गहन जंगल में जहाँ ज्ञान प्रकाश नहीं कर पाता, वहाँ भी श्रद्धा प्रकाश फैला देती है । श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है ।

अचक्खुगाणं इणमत्थि चक्खू,  
 अपायगाणं चरणं इणं च ।  
 सद्धाविहीणस्स मणस्स देसे,  
 णो वारिहं वोत्तुमिणं ति भव्वं ॥८॥

यह श्रद्धा नेत्रहीन व्यक्तियों के लिए नेत्र और चरणहीन व्यक्तियों के लिए चरण है । श्रद्धाविहीन मन के प्रदेश में यह भव्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

जो अत्तवीसासपगासपत्तो,  
 तेणंधयारो सयलो वि तिण्णो ।  
 राओ वि णो तारिसमंधयारं,  
 संदेहघत्तस्स जहा दिणे वि ॥९॥

जिसने आत्म-विश्वास का प्रकाश पा लिया उसने समूचे अंधकार का पार पा लिया । रात्रि में भी वैसा अंधकार नहीं होता जैसा अंधकार दिन में भी संदेह-शील व्यक्ति के होता है ।

मणप्पसाओ विउलो जहत्थि,  
 महं स सक्को वि परेण लद्धुं ।  
 भवे उवालंभपरो न भावो,  
 अणिच्छिण वेस तउज्जुमग्गो ॥१०॥

जैसे मुझे मन की विपुल प्रसन्नता प्राप्त है, उसे दूसरा भी प्राप्त कर सकता है, यदि उसके मन में अनिश्चित वस्तु के प्रति उपालंभ या शिकायत का भाव न हो । प्रसन्नता की प्राप्ति का यह ऋजु मार्ग है ।

जइत्थि पच्चक्खमिहं भवं महं  
 तो पक्खपातं न पियस्स संसए ।  
 ण तुच्छगं सो कुणई महंतगं,  
 परं महंतं पि करेइ तुच्छयं ॥११॥

यदि आप वास्तव में महान् हैं तो प्रिय के प्रति पक्षपात न करें । क्योंकि पक्षपात तुच्छ व्यक्ति को महान् नहीं बना सकता, किन्तु महान् को तुच्छ बना डालता है ।

जइत्थि पच्चक्खमिहं भवं लहू,  
तो विद्ध-आणं समतिक्कमाहि णो ।  
फलाणुभूई स्स परं भविस्सई,  
तया जया तं गुरुओ भविस्ससि ॥१२॥

यदि तुम प्रत्यक्ष ही छोटे हो तो वृद्ध जनों की आज्ञा का अतिक्रमण मत करो । इसकी फलानुभूति तुम्हें तब होगी जब तुम स्वयं गुरु बनोगे ।

अलद्धलक्खे मणसो पवित्ती,  
घणत्तमागच्छइ जारिसं च ।  
न तारिसं गच्छइ लद्धलक्खे,  
मए समंता अणुभूयमेयं ॥१३॥

लक्ष्य की उपलब्धि के काल में मन की प्रवृत्ति जितनी सघन होती है उतनी लक्ष्य के उपलब्ध होने पर नहीं होती । मैंने सभी क्षेत्रों में यह अनुभव किया है ।

तेणेव सामण्णमुवागएण,  
लक्खं परं किच्चिऽवधारणीयं ।  
पस्सं जणो लक्खमपत्तमित्थ,  
सयं तदट्ठं धणियं पयाइ ॥१४॥

इसीलिए श्रामण्य में उपस्थित मुनि को किसी न किसी लक्ष्य का अवधारण कर लेना चाहिए । जब तक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी तब तक वह स्वयं बहुत अधिक प्रयत्न करता रहेगा ।

तस्संधयारो दिवसे वि अत्थि,  
निरिक्खओ जेण महं न अप्पा ।  
राओ वि तस्सत्थि महं पगासो,  
निरिक्खओ जेण महं णिअप्पा ॥१५॥

जिसने महान् आत्मा का निरीक्षण नहीं किया है, उसके लिए दिन में भी अंधकार है और जिसने अपनी महान् आत्मा का निरीक्षण किया है उसके लिए रात में भी महान् प्रकाश है ।

जस्सत्थि पासे चिअ अप्पणो पहू,  
ण सो जणो णाम परस्सिओ सिया ।

ण जेण लद्धो चिअ अप्पणो प्हू,  
पासं परं रुस्सइ तुस्सई सया ॥१६॥

जिसके पास अपना प्रभु विद्यमान है, वह व्यक्ति कभी भी दूसरे के आश्रित हीं होता। जिसने अपने प्रभु को नहीं पाया, वह दूसरे को देखकर रुष्ट या मुष्ट होता रहता है।

आराहिओ होहिइ अप्पणो प्हू,  
विराहिआ होहिइ खुद्दभावणा।  
आराहिआ होहिइ खुद्दभावणा,  
विराहिओ होहिइ अप्पणो प्हू ॥१७॥

जब अपने प्रभु की आराधना की जाती है, तब क्षुद्र भावना विराधित होती है, नष्ट हो जाती है। जब क्षुद्र भावना की आराधना की जाती है तब अपने प्रभु की विराधना होती है।

पासं पियस्सावि जणस्स दोसे,  
गुणे य पासं तह अप्पियस्स।  
अप्पं सिण्णिद्धं पकरेमि नूणं,  
कहेंति लूहं पवरं कहेंतु ॥१८॥

प्रियजन के दोषों और अप्रियजन के गुणों को देखकर भी मैं अपने आपको स्नेह—स्नेहमय बनाए रखता हूँ। फिर भी मेरे अपने लोग मुझको 'रूक्ष' कहते हैं, भले ही कहें।

गुणे हि पासं सययं पियस्स,  
दोसे हि पासं तह अप्पियस्स।  
अप्पं सुलूहं पकरेमि नूणं,  
परं सगा मं च कहेंतु निद्धं ॥१९॥

प्रियजनों के गुणों और अप्रियजनों के दोषों को देखकर मैं अपने आपको रूक्ष बना लेता हूँ फिर भी मेरे अपने लोग मुझको 'स्नेहिल' कहते हैं, भले ही कहें।

नाहिनति लोगा किमियं ति नच्चा,  
कज्जं सुकज्जं पि न तं करोसि।

परस्स दिट्ठीइ निरिक्खमाणो,  
अप्पाणमेवं परतंतिओ सि ॥२०॥

यदि मैं यह करूंगा तो लोग क्या समझेंगे—ऐसा जानकर तुम अच्छे कार्य  
को भी नहीं करते। इस प्रकार तुम दूसरे की दृष्टि को देखते हुए अपने आपको  
रतन्त्र बना डालते हो।

परस्स तोलामि अहं तुलाए,  
माणेण अन्नस्स नियं मिणामि।  
पासामि दिट्ठीइ परस्स चे हं,  
तो अत्थिभावो पि ण अप्पणोत्थि ॥२१॥

मैं दूसरों की तुला से तोला जाऊं, दूसरों के माप से मापा जाऊं और दूसरों  
की दृष्टि से देखा जाऊं—इस प्रक्रिया में स्वयं का अस्तित्व-भाव भी नहीं रह  
जाता।

एएण सिद्धंतविणिच्छएण,  
अणेगवारं जडिला ठिईवि।  
उज्जूकया णेव मणं विसणं,  
अत्थित्तमेवापि सुरक्खियं च ॥२२॥

इस सिद्धान्त को निश्चित कर मैंने अनेक बार जटिल स्थिति को भी सरल  
बनाया है। इस प्रक्रिया से मेरा मन भी विषण्ण नहीं हुआ और मैंने अपने अस्तित्व  
की भी पूर्ण सुरक्षा की।

पढियं गुणियं सुणियं,  
भणंतस्स होइ जंपिरा बुद्धी।  
जप्पंतस्सणुभूयं,  
बुद्धी मोणं सयं समासेइ ॥२३॥

जो व्यक्ति पढ़े हुए, अभ्यास किए हुए और सुने हुए की बात कहता है,  
उसकी बुद्धि वाचाल हो जाती है। और जो अपनी अनुभूत बात कहता है उसकी  
बुद्धि मौन हो जाती है।

सच्चं खु सक्खं भवई तथा जया,  
सद्दस्स जालाविगओ भवामि हं।

सद्दस्स कारागिहतंतिओ जणो,  
सव्वत्थ मोहं तिभिरं च पासई ॥२४॥

जब मैं शब्द-जाल से छूटता हूँ तब सत्य का साक्षात्कार होता है। जो व्यक्ति शब्द के कारागृह का बन्दी है, वह सर्वत्र मोह और अन्धकार ही देखता रहता है।

जेणत्थि दिण्णा पवरा सुदिट्ठी,  
तेणत्थि मग्गो पवरोत्थ पत्तो ।  
सुरक्खिआ तेण कयण्णया य,  
पइट्ठिओ मे तुलसी तओत्थि ॥२५॥

जिसने मुझे सुदृष्टि दी, उसी ने मुझे सही मार्ग भी दिखाया। मेरी कृतज्ञ भावना भी सुरक्षित रही। मेरे हृदय में आचार्य तुलसी प्रतिष्ठित हैं।

(वि० २०१६-पौष-रीछेड, मेवाड़)

## २ : निमेषोन्मेषाः

### शून्यम्

पूषाजस्रं गाहते व्योम घस्रे,  
रात्रावेते तारकाः सञ्चरन्ति ।  
लब्धा तेनैकापि नालोकरेखा,  
नूनं न स्याच्छून्यतायां स्वतेजः ॥१॥

दिन में सूर्य आकाश का अवगाहन करता है और रात में ये तारे नभ में विचरण करते हैं, फिर भी आकाश ने एक भी प्रकाश-रेखा प्राप्त नहीं की। यह ठीक है कि शून्यता में अपना तेज नहीं होता।

आलोकमालां क्षिपतेँशुमाली,  
व्याप्नोति रुद्रा रजनी तमिस्रा ।  
तमोपि तेजोपि समावकाशं,  
करोति शून्यं तत एव शून्यम् ॥२॥

दिन में सूर्य प्रकाश बिखेरता है और रात में सारा आकाश अन्धकार से व्याप्त हो जाता है। यह आकाश प्रकाश और अन्धकार को समान रूप से स्थान देता है, इसीलिए यह शून्य है।

### निद्रा

निद्रे ! दरिद्रानपि पश्य किञ्चिद्,  
निर्वाससो ये निवसन्ति नित्यम् ।  
किं शीतभीता धनिनोऽनुयासि,  
न वेत्सि भीता हि जडाः भवन्ति ॥३॥



नींद ! तू उन दरिद्र मनुष्यों की ओर भी कुछ देख जो बिना वस्त्र के निरन्तर जी रहे हैं। तू ठंड से भयभीत होकर धनिकों के पास क्यों जाती है ? क्या तू नहीं जानती कि जो डरते हैं वे जड़ होते हैं।

निमेषमाधाय समेति निद्रा,  
निमेषभाजामथवा भवेत् सा ।  
अप्यस्ति यत्रावरणं कनीयः,  
तत्रैव जाड्यं च तमः प्रवेशि ॥४॥

नींद चक्षु के द्वार बंद कर आती है अथवा जिनके चक्षु के द्वार बंद होते हैं उनके पास आती है। ठीक ही होता है, जहां थोड़ा-सा आवरण है, जड़ता और अंधकार वहीं प्रवेश पाते हैं।

## स्नेह

वातस्पर्शं प्राप्य पत्राण्यपीषद्,  
शब्दं नृत्यं संसृजन्त्युच्छलन्ति ।  
पारस्पर्ये मौनभङ्गोपि न स्यात्,  
तत् किं स्नेहः साहचर्याद् बिभेति ॥५॥

वायु का स्पर्श पाकर ये पत्ते कुछ शब्द कर रहे हैं, नाच रहे हैं और उछल रहे हैं। परस्परता का संगम होने पर भी यदि मौनभंग न हो तो आत्मीयता का पता ही क्या चले ? वह क्या स्नेह जो साहचर्य से भय खाए ?

स्नेहोद्भूताऽलोकलेखा पुराभूत्,  
नीरोद्भूता साम्प्रतं विद्युदेषा ।  
स्नेहश्चेतः चिक्कणत्वं चिनोति,  
नीरं स्नेहक्षालि तत् स्नेहहानिः ॥६॥

प्राचीन काल में प्रकाश की रेखा स्नेह (तैल) से उत्पन्न होती थी और आज वह पानी से उत्पन्न है। स्नेह चित्त को स्निग्ध बनाता है और नीर स्नेह का प्रक्षालन करता है। इसीलिए आज स्नेह की हानि दीख रही है।

## दम्भ

आयाता गगनाङ्गणे प्रगुणिता कादम्बिनी दम्भिनी,  
व्योम्ना स्थानमदायि सत्कृतियुतं प्राच्छाद्य सूर्यं स्थिता ।  
सारस्यं समवप्रदाय परितो भूयो गता मेदिनीं,  
क्षीणं नीरसमात्रमत्र कुणपं धिक् दम्भिनां चेष्टितम् ॥७॥

आकाश में यह दम्भिनी मेघमाला उमड़ आयी । आकाश ने सत्कार करते हुए उसे स्थान दिया । उसने सूर्य को आच्छादित कर दिया । चारों ओर से सरसता लेकर वह भूमि पर गिरी । वह क्षीण हो गई और अब मृत कलेवर मात्र रह गई । धिक्कार है दम्भी व्यक्तियों की चेष्टाओं को !

## छिद्रम्

एणी वीणानादनद्धात्मकर्णा,  
स्फालालीनाप्याशुरूद्धक्रमाभूत् ।  
सूक्ष्मं छिद्रं गामुकत्वं रुणद्धि,  
निश्छिद्रत्वं तेन काम्यं प्रगत्याम् ॥८॥

वीणा बज रही थी । एक हरिणी जा रही थी । वह वीणा के स्वरों को सुनने में आसक्त हो गई । ऊंची छलांग भरने वाले उसके पैर रुक गए । उसके कान के एक छोटे-से छिद्र ने उसके गमन को रोक डाला । अतः प्रगति के लिए निश्छिद्रता काम्य है ।

## अवलेप

अब्ज ! भृङ्गावलि वीक्ष्या-  
वलिप्तं प्रेम वारिणा ।  
मात्याक्षीस्तद् विना तूर्णं,  
ह्येषाऽन्यत्र गमिष्यति ॥९॥

हे कमल ! मंडराती हुई भौरों की पंक्ति से अवलिप्त होकर तू जल से नाता मत तोड़ । जल से संबंध तोड़ लेने पर यह भ्रमर-पंक्ति शीघ्र ही दूसरे स्थान पर चली जाएगी ।

आत्मा जडत्वमापन्नो,  
गता सरसता क्वचित् ।  
ईक्षूणां देहमात्मीयं,  
दह्यमानं प्रपश्यताम् ॥१०॥

आत्मा जड़ हो गई। सरसता चली गई। तब ईक्षु का अपना शरीर जलने लगा। इसे तुम देखो और समझो।

## विजेता

पराजितानामियमेव रीति-  
गालिप्रदानं सततं सृजन्ति ।  
पराऽजितानामियमेव रीति-  
गालिप्रदानं सततं सहन्ते ॥११॥

जो पराजित हो जाते हैं, उनकी यह विधि है कि वे सतत गाली देते रहते हैं; जो दूसरों के द्वारा विजित नहीं हैं, वे गालियों को सतत सहते रहते हैं।

## असंग्रह

बिन्दून् बिन्दून् गृहीत्वा सुमधुरपयसो जात एवासि सिन्धुः,  
गृणहन् गृणहन् पुनर्वा दददपि च ददत् क्षार एवासि बन्धो !  
अग्राहे बाह्यरूपं न भवति विपुलं किन्तु माधुर्यमत्र,  
वक्षो व्याप्नोति नूनं न वहननिवहः संग्रहे व्यत्ययो हि ॥१२॥

हे समुद्र ! तू मीठे पानी की एक-एक बूंद लेकर सिन्धु बना है। हे बन्धो ! तू जल का दान करके भी खारा बना हुआ है; क्योंकि तू संग्रह से विमुख नहीं है। जो बाहर से कुछ भी ग्रहण नहीं करता, उसका बाह्य रूप भले ही विपुल न हो, किन्तु वह मधुर होता है। जो व्यक्ति संग्रह करता है उसका बाह्य रूप विपुल हो सकता है, पर वह मधुर नहीं होता और उसकी छाती पर वाहन-समूह चलते रहते हैं।

सिन्धो ! साम्राज्यवादं व्यपनय नयतः शास्ति तंत्रं प्रजानां,  
गृणहन् दायं गिरिभ्योऽनुभवसि न शमं संग्रहोन्मत्तचेताः ।

१४ अतुला तुला

प्राडुर्भूतोऽस्ति भूम्यां निधनकर इतः पश्य संसत्प्रकाशे,  
हिन्दूकोडाभिधोयं स्फुरति विधिरतो मुञ्च पत्नीरनल्पाः ॥१३॥

हे समुद्र ! तू साम्राज्यवाद को छोड़ दे। देख, आज प्रजातन्त्र न्यायदृष्टि से शासन कर रहा है। तू पर्वतों से दाय भाग (दहेज) लेता हुआ भी शांति का अनुभव नहीं कर रहा है क्योंकि तेरा चित्त संग्रह करने में उन्मत्त है। संसद् के प्रकाश में तू देख, इधर मृत्यु-कर लग गया है और उधर 'हिन्दूकोड बिल' भी चालू हो गया है। अतः तू संग्रह और बहुपत्नी-प्रथा को छोड़ दे।

## ३ : स्वतन्त्रताया विवेकः

आराधय रे आराधय,  
रे कुसुम ! विटपिनं साधय ।  
स्वगतं परिपूर्णविकासं,  
मा दूरीभूय विराधय ।

परिकर एवासि तरोरिति, सत्यं नासि स्वाधीनम् ।  
आलोचय परिहायैतं, किं भावीतरथा पीनम् ।  
शोभा त्वं भूमिरुहस्य, शोभा त्वं भूवलयस्य ।  
शोभा त्वं सद्हृदयस्य, शोभा त्वं सुरनिलयस्य ।  
त्वां प्राप्य कबर्यो वर्याः,  
सुकवीनां प्रिय ! सुमति नय ॥१॥

मन्दं मन्दं पवनोयं, कर्णेजपतां विदधाति ।  
यः सम्प्रति वारं वारं, शाखायां त्वामायाति ।  
किन्तु स्मर रे स्मर भावुक ! दुर्गतिमेषोपि विधाता ।  
त्वां धूलिधूसरं कृत्वा, स्वयमाशु सुदूरं याता ।  
मौलावास्पदमहंसि रे !,  
मा भूमिपातमभिवादय ॥२॥

नायं खलु तरुनुदारो, यो वृणुयादपराभ्युदयम् ।  
पूर्णावियवे त्वयि जाते, स्वयमेष विधातानुनयम् ।  
माली स्वांगुलिमाधुन्वन्, स्वायत्तं त्वामिह कृत्वा ।  
मालापरिणतिमाधाय, महतामपि हृदयं नीत्वा ।

अमृतत्वं नेष्यति नूनं ।

पन्थानममुञ्च सभाजय ॥३॥

हे कुसुम ! तू वृक्ष की आराधना कर । तू उसे साध । तेरे में पूर्ण विकसित होने की जो शक्ति विद्यमान है, वृक्ष से दूर होकर उस शक्ति को मत गंवा ।

यह सत्य है कि तू वृक्ष का ही एक अंग है । तू स्वतन्त्र नहीं है । तू यह सोच कि क्या वृक्ष के बिना तू विकसित हो सकता था ? तू वृक्ष की शोभा है । तू भूमंडल की शोभा है । तू सहृदयालु व्यक्तियों की शोभा है । तू स्वर्ग की शोभा है । तुझे प्राप्त कर केशराशि मनोरम बन जाती है । हे कवियों के प्रिय सुमन ! तू सुमति का सहारा ले ।

देख, धीरे-धीरे बहने वाला यह पवन तेरे कान में कुछ गुनगुना रहा है । यह आज बार-बार तेरी शाखा के पास आता है । किन्तु भावुक सुमन ! तू याद रख, याद रख । यही एक दिन तेरी दुर्गति करेगा । तुझे यह मिट्टी में मिला कर स्वयं शीघ्र ही दूर भाग जाएगा । सुमन ! तू सिर पर धारण करने योग्य है ।

तू भूमि-पतन का अभिवादन मत कर ।

यह वृक्ष अनुदार नहीं है कि दूसरे के विकास को आवृत कर दे । जब तू पूर्ण विकसित हो जाएगा, तब यह वृक्ष स्वयं तुझे स्वतंत्र कर देगा । माली आएगा । वह अपनी अंगुलियों से तुझे प्राप्त कर, माला में पिरोकर, महान् व्यक्तियों के गले में तेरा स्थान बना देगा । तब तू अमर हो जाएगा । सुमन ! तू इसी मार्ग को अपना और वृक्ष से लगा रह ।

## ४ : स्वतन्त्रभारतगी:

स्वस्य शासनमभूल्लुप्तपरशासने  
 भारते भारतीयैरभीष्टम् ।  
 विस्मृतां तात्त्विकीं प्राणदां संस्कृति,  
 लब्धुमपि केन चेतः प्रकृष्टम् ॥१॥

कोपि नेच्छतितमां शासनं स्वात्मनि,  
 नात्मजयमिन्द्रियाण्यपि यतानि ।  
 लालसापरवशाः स्वार्थसंयतदृशो,  
 नैव पश्यन्ति ऋषिभाषितानि ॥२॥

वाचि गौरवकथा पूर्वजानां गुरु-  
 रगुरुरास्थापि नो कार्यकाले ।  
 स्थितिरिदानीन्तनी हन्त ! जटिलाऽखिला,  
 शान्तिराम्नापि संकल्पजाले ॥३॥

नेतृतारङ्गभूर्दृष्टिमाकर्षति,  
 चेतनाव्यापि मिथ्यामहत्त्वम् ।  
 जीवनं भोगलिप्साशतव्याकुलं,  
 स्मर्यते कैरहो ! त्यागतत्त्वम् ॥४॥

शुष्कतर्करलं ताडिता तजिता,  
 लुप्तशीलाह विश्वासवीथिः ।  
 रीतिराचारगा शस्यते न क्वचिद्,  
 घुणजनव्याहता साधुनीतिः ॥५॥

हन्त ! मृगतृष्णया मोहितं जगदिदं,  
नापवादस्ततो भारतोऽपि ।  
कोऽपि नाध्यात्मिका गुहरभूदीदृशः,  
किं न तत्त्वं विलोकेत सोऽपि ॥६॥

संग्रहः स्वल्पको वर्धतां संयमः,  
प्रोच्चजीवनमनेनैव भूयात् ।  
तत्स्वतन्त्रा स्थितिर्भाविनी वस्तुतो,  
भद्रमध्यात्मवादस्य भूयात् ॥७॥

भारत में दूसरों का शासन लुप्त हुआ और भारतीय जनता का अभिप्रेत स्वशासन प्राप्त हुआ। किन्तु विस्मृत, तात्त्विक और संजीवनी तुल्य भारतीय संस्कृति को पुनः प्राप्त करने के लिए किसने अपने मन को उत्साहित किया ?

अपने पर अनुशासन और आत्मविजय करना कोई नहीं चाहता। इन्द्रियां भी संयत नहीं हैं। सब मनुष्य लालसा के वशीभूत हैं और सबकी दृष्टि स्वार्थ-परक है। वे ऋषि-वाणी पर ध्यान नहीं देते।

मनुष्यों की वाणी में अपने पूर्वजों की महान् गौरव-गाथा है किन्तु कार्यकाल में उस पर किञ्चित् भी आस्था नहीं है। आज की सारी स्थिति जटिल है। संकल्प-जाल में शांति मान ली गई है।

नेतृत्व की रंगभूमि सबको अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। झूठा महत्त्व व्यक्ति-के कण-कण में व्याप्त है। जीवन भोग की सैकड़ों लिप्साओं से भरा हुआ है। ऐसी स्थिति में कौन त्याग को याद करे ?

विश्वास का मार्ग शुष्क तर्कों से ताड़ित और तर्जित होकर लुप्तशील वाला हो गया है। आचारयुक्त रीति कहीं भी प्रशंसित नहीं है। श्रेष्ठ नीति घुण जैसे लोगों द्वारा व्याहत हो रही है।

खेद है कि यह समूचा जगत् मृगतृष्णा से मोहित हो रहा है। भारतवर्ष भी इसका अपवाद नहीं है। 'भारत जैसा आध्यात्मिक गुरु कोई दूसरा देश नहीं था'—इस तत्त्व को मनुष्य क्यों नहीं देखता ?

संग्रह कम हो और संयम बढ़े—इससे ही जीवन उन्नत हो सकता है। तब ही वस्तुतः स्वतन्त्रता की स्थिति होगी और अध्यात्मवाद फलेगा-फूलेगा।



## ५ : विनयपत्रम्

महते यात्रिणे यात,  
भावाः ! शब्दाश्च संप्रति ।  
सद्वैद्याय शिवाद्याय,  
तुलसीप्रवराय मे ॥१॥

हे मेरे भावो ! शब्दो ! तुम अभी महान् यात्री, सद्वैद्य और कल्याण की संगदा से सम्पन्न श्रीमद् आचार्य तुलसी के पास जाओ ।

यस्योच्चैस्त्वं शिखरिशिखरं लङ्घयित्वाऽभियाति,  
यस्य प्रेम स्पृशति हृदयं नावृतं मानवानाम् ।  
यस्याश्रवामो दिशति सुदिशं त्राणचिन्तारतानां,  
चेतो ! याहि प्रकृतपुरुषं तं प्रणन्तु महान्तम् ॥२॥

मन ! तू उन महान् प्रकृत पुरुष श्री तुलसी को प्रणाम करने के लिए जा जिनकी उच्चता पर्वतों के शिखरों को लांघकर अभियान कर रही है, जिनका अनावृत प्रेम मनुष्यों के हृदय का स्पर्श करता है और जिनका आश्रवासन रक्षा की चिन्ता में आतुर प्राणियों को सही दिशा देता है ।

दृष्टिप्रेक्षा भवति निकटं दूरतो नापि वार्ता,  
कायस्पर्शः सविधविषयो दूरता दूरतैव ।  
अग्रे पृष्ठे भवति करणं दूरदेशे हि चेतो,  
यत्सान्निध्यं जनयति निजैर्ज्ञातमज्ञातमन्यैः ॥३॥

जो निकट होता है उसे दृष्टि से देखा जा सकता है । जो दूर होता है उससे बात भी नहीं की जा सकती । निकटता होने से काया का स्पर्श भी हो सकता है । दूरी दूरी ही है । दूर देश में आगे-पीछे केवल एक चित्त ही साधन होता है जो

अपने निजी व्यक्तियों के साथ निकटता पैदा करता है। यह दूसरे नहीं जान पाते।

नोपादानं व्रजति मनुजो नाम पश्यन्निमित्तं,  
शाब्दे लोके व्यवहृतिपरे शब्द एव प्रमाणम् ।  
भावालोकाः प्रकृतिपटवो यात शब्दास्तदर्थम्  
देवार्थाय ज्ञपयत परां वन्दनां नम्रभावाम् ॥४॥

निमित्त कारण को देखता हुआ मनुष्य उपादान कारण को प्राप्त नहीं होता। इस व्यावहारिक और शाब्दिक लोक में शब्द ही प्रमाण हैं। इसलिए भावना के आलोक से आलोकित तथा प्रकृति से पटु शब्दो ! तुम आचार्य तुलसी के पास जाओ और हमारी विनम्र और उत्कृष्ट वन्दना को निवेदित करो।

यस्य स्वास्थ्ये निहितमतुलं स्वास्थ्यमूर्ध्वं जनानां,  
तस्मै पुण्यं ज्ञपयत सुखप्रश्नमिष्टं नितान्तम् ।  
शब्दाधीना वयमिह यतः साम्प्रतं दूरदेशे,  
तद् युष्माभिः समुचितविधि प्रातिनिध्यं विधेयम् ॥५॥

जिनके स्वास्थ्य में जनता का सम्पूर्ण स्वास्थ्य निहित है, उन पूज्य तुलसी के पास जाकर तुम सदा हमारा सुख-प्रश्न ज्ञापित करो। हम दूर प्रदेश में स्थित होने के कारण शब्दों के अधीन हैं। इसलिए शब्दो ! तुम हमारा समुचित ढंग से प्रतिनिधित्व करो।

सानन्दाः स्मो वयमिह तव प्राप्य वाणीं प्रशस्तां,  
सोल्लासाः स्मो वयमिह मनःस्वास्थ्यमासेवमानाः ।  
सोद्योगाः स्मो वयमिह तनुस्वास्थ्यमुच्छ्वासायन्तः,  
सोत्साहाः स्मो वयमिह सदा लेखनीं संस्पृशन्तः ॥६॥

गुरुदेव ! आपकी प्रशस्त वाणी को प्राप्त कर हम यहां आनन्द में हैं। हम मानसिक स्वास्थ्य को धारण करते हुए उल्लसित हैं। हम शारीरिक स्वास्थ्य को पुधारने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। हम आज लेखनी का स्पर्श कर, आपको कुछ लिखते हुए पूर्ण उत्साहित हो रहे हैं।

कार्यं किञ्चित्प्रगतिमगमत्तेन तुष्याम एव,  
कार्यं किञ्चिन्न कृतमपि तत्पूर्तिमानेतुमुत्काः ।

गन्तव्ये स्मो वयमिह गतास्तत्र यास्यन्ति पूज्याः,  
गन्तव्योऽयं विधिरतितरां नास्ति गन्तव्यमन्यत् ॥७॥

कार्य में कुछ प्रगति हुई है, इसका हमें संतोष है। अभी जो कुछ कार्य शेष है, उसको पूर्ण करने में हम उत्सुक हैं। जहां हमें पहुंचना था, वहां हम पहुंच गए हैं और पूज्यश्री भी वहीं आएंगे। यह विधि ही सर्वथा गन्तव्य है। इसके अतिरिक्त कोई गन्तव्य नहीं है।

कष्टापातः प्रथममभवत्पञ्चकर्मप्रथायां,  
स्नेहप्राप्तिः क्व खलु सुलभा स्वेदनं क्वास्ति लभ्यम्।  
यत्प्राप्तानां भवति वमनं कष्टमामाशयाय,  
शुद्धः पक्वाशय इह विना स्यान्नवा रेचनेन ॥८॥

आयुर्वेद चिकित्सा के अनुसार मैंने पञ्चकर्म करवाए। उस प्रणाली में पहले-पहल बहुत कष्ट हुआ। स्नेह प्राणियों के लिए कहां सुलभ है? स्वेदन भी कहां प्राप्त होता है। इन दोनों के होने पर वमन होता है। वह आमाशय के लिए कष्टदायी होता है। रेचन के बिना पक्वाशय शुद्ध नहीं होता।

उत्तीर्णोऽयं जलधिरधुना तीरमस्मि श्रितोऽहं,  
कल्पारम्भो भवति नवमीवासरे पुण्ययोगे।  
सेवाभावो मुनिगणगतः कल्पनादुर्लभोऽसौ,  
साध्वीयोगात्सुविधिरभवत्तन्निदानं सुदृक्ते ॥९॥

मैं इस पञ्चकर्म के समुद्र को पार कर किनारे पर आ पहुंचा हूं। इस पुण्य नवमी के दिन कल्प का प्रारंभ हो रहा है। सहयोगी मुनियों ने जो सेवा की है उसकी कल्पना भी दुर्लभ है। साध्वियों का भी उचित सहयोग रहा। यह सब आपकी सुदृष्टि का ही परिणाम है।

आचार्यश्रीप्रवरतुलसीपुण्यसान्निध्यमाप्ताः,  
चम्पालालप्रभृतिमुनयो वन्दनीया यथार्हम्।  
अत्रत्यानां मनसि लपितं ते विदन्तु प्रयोग्यं,  
अत्रत्यानां मनसि लपितं नेयमस्माभिरिष्टम् ॥१०॥

आचार्यप्रवर श्री तुलसी के निकट रहने वाले मुनि चंपालालजी (सेवाभावी) भादि मुनिवृन्द को यथायोग्य वन्दना, सुखपृच्छा। यहां पर स्थित मुनियों के मन में

२२ अतुला तुला

विद्यमान वन्दना-सुखपृच्छा की भावना को वहां के मुनिवृन्द यथायोग्य जान लें और हम यहां स्थित मुनि वहां के मुनिगणों की मानसिक भावना को ग्रहण कर लेंगे ।

[ आचार्यश्री तुलसी को प्रदत्त पत्र—राजनगर (मेवाड़) वि० सं० २०१७  
ज्येष्ठ शुक्ला ६ ]

## ६ : मेघाष्टकम्

लीलालोलाः पयोदाश्चपलगतिकला व्योम्नि नीले नटन्तो,  
विद्युत्लेखाविहीना हृतजलधिजलाः प्रायशो गर्जिशून्याः ।  
आरूढा गन्धवाहं वृतभगणरुचो ज्योतिषां दस्यवो हि,  
स्तन्ये दाने च तुल्यो विधिरिति तिमिरं मौनिता गोप्यता च ॥१॥

बम्बई के चपल गति करने में निपुण चंचल मेघ नील-नभ में नाच रहे हैं । उन्होंने पास वाले समुद्र से पानी चुराया है । इसलिए वे हाथ में विद्युत् का दीप लिये बिना ही अंधकार में चुपचाप चले जा रहे हैं । वे ज्योति के शत्रु बादल पवन पर आरूढ होकर ज्योतिष्चक्र को आवृत कर रहे हैं । क्योंकि चोरी और दान की विधि एक-जैसी होती है । दोनों में अप्रकाश, मौन और गुप्तता—ये तीनों होते हैं ।

संतप्ता भूविभागा हुतवहसदृशा यत्र धूलीप्रदेशे,  
बिन्दून् बिन्दून् प्रतीक्षां विदधति सतृषं दह्यमाना भलाभिः ।  
तत्राम्भोदावलोको न भवति सुलभो यत्र सिन्धोर्लहयं-  
स्तत्रैते भूरि दृश्या ऋतमिति सकलाः पूर्णमापूरयन्ति ॥२॥

जिस मरुधर प्रदेश में सूर्य के आतप से भूमि अग्नि की तरह तप उठती है और वहां के लोग ताप से झुलसते हुए बूंद-बूंद के लिए सतृष्ण नेत्रों से प्रतीक्षा करते हैं, वहां मेघ का दर्शन भी सुलभ नहीं होता । किन्तु जहां समुद्र की लहरें उछलती रहती हैं, वहां बादलों का समूह आकाश में मंडराता रहता है । यह सत्य है कि सभी व्यक्ति भरे हुए को ही भरते हैं ।

दृष्टं स्पष्टं मरौ ते प्रतनुकपयसा टोपमारोपयन्तो,  
वर्षन्ति स्वल्पमम्बु स्तनितविलसितैर्भापयन्तः किशोरान् ।

रौद्रं रूपं सृजन्तः कथमपि कुटिलं मोहमय्यां न दृष्टाः,  
सारे नाडम्बरो यद् बहिरुपकरणं रच्यते स्वल्पसारैः ॥३॥

मैंने मरुभूमि में यह स्पष्ट देखा है कि थोड़े पानी वाले बादल बहुत आडम्बर करते हुए आकाश में उमड़ते हैं, गर्जन करते हुए बालकों को डराते हैं, किन्तु बहुत कम पानी बरसाते हैं। यहां बम्बई में मैंने उन्हें किसी प्रकार का कुटिल रौद्र रूप धारण करते हुए नहीं देखा। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि जो सार-युक्त होता है उसमें कोई आडम्बर नहीं होता और जो स्वल्प सारवाला होता है वही बाहरी उपकरणों की रचना करता है, आडम्बर दिखाता है।

सिन्धोरादाय नीरं विदधति मधुरं क्षारभावं व्युदास्य,  
सिञ्चन्तीलामशेषां सुबहुलसलिलाः आपगाः संसृजन्ति ।  
अज्ञानारम्भ एष प्रकृतिविरचितस्तेन केचिद् रुदन्ति,  
वर्षाभावे तदन्ये जलबहुलतया पापमज्ञानमुच्चैः ॥४॥

बादल समुद्र से पानी लेकर, उसके खारेपन को मिटाकर मीठा बना देते हैं। वे सारी पृथ्वी को पानी से सींचते हैं और प्रचुर पानी वाली नदियां प्रवाहित हो उठती हैं। वे अनेक गांवों को बहा ले जाती हैं। प्रकृति द्वारा विरचित यह अज्ञान का ही फल है। इससे कई लोग वर्षा के अभाव में तो कई लोग वर्षा की अति से रोते हैं। यह सत्य है—अज्ञान बहुत बड़ा पाप है।

ग्रीष्मो नीतो निधनमभितो येन तद्राज्यलक्ष्मी-  
ध्वस्ता चक्रे रसमवनिगं शोषयित्वा प्रकामम् ।  
हा ! किं जातं सहजसुलभं पापिनोन्तेन पाप-  
मन्तं नेतुं स्फुरति धिषणा शाश्वतो मार्क्सवादः ॥५॥

बादलों ने उस ग्रीष्म ऋतु को नष्ट कर डाला जिसने पृथ्वी के रस का प्रचुर शोषण कर वर्षा की राज्यलक्ष्मी को ध्वस्त किया था। हा ! यह क्या सहज सुलभ हो गया है कि मनुष्य की बुद्धि पाप का अन्त करने के लिए पापी का अन्त करने की दिशा में स्फूर्त होती है। क्या मार्क्सवाद शाश्वत नहीं है ?

क्षणेश्चवानः शुष्काः स्फुटमपि नभो धूपललितं,  
क्षणे मेघाच्छन्नं तदहं खलु ते नीरभरिताः !  
अये मेघा ! नैतद् विदितमपि सर्वोर्ध्वमटतां,  
न विश्वासश्चाप्यो भवति महतां चञ्चलधियाम् ॥६॥

बम्बई में हमने देखा कि क्षणभर के लिए सारे मार्ग सूखे हुए हैं। आकाश स्वच्छ और धूप से ललित है। क्षणभर के बाद देखा कि सारा आकाश मेघ से आच्छन्न है और वे मेघ जल से भरे-पूरे हैं। हे मेघ ! तुम सबसे ऊंचे घूमते हो, फिर भी तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि चंचलवृत्ति वाले, महान् होते हुए भी, जनता का विश्वास नहीं पा सकते।

आश्रित्यानिलमूर्ध्वगा जलमुचो जानन्ति तत्त्वं न तत्,  
कुर्वन्तो गग्रनाङ्गणे चपलताकेलि हरन्ते मनः।  
स्तोकेनैव पलेन भूमिपतनं ते यान्त्यतर्क्य ध्रुव-  
मन्यालम्बनतो यदूर्ध्वगमनं तन्नास्ति रिक्तं भयात् ॥७॥

मेघ पवन के आश्रय से बहुत ऊंचे चले जाते हैं। वे तत्त्व को नहीं जानते। वे आकाश में चपल क्रीड़ा करते हुए लोगों का मन हर लेते हैं। वे थोड़े ही समय में अतर्कित रूप से भूमि पर गिर जाते हैं, क्योंकि दूसरों के सहारे ऊंचा चढ़ना खतरे से खाली नहीं होता !

धान्यं येभ्यो नयति कृषिको जीवनं सर्वलोकः,  
शैत्यं वातो नवरसमगः स्नेहमुर्वी प्रकर्षम्।  
जातो नूनं जलधरसुहृत् केवलं यन्मयूरः,  
गम्यं तस्माद् हृदयमितरद् भिन्नमावश्यकत्वम् ॥८॥

मेघों से कृषक धान्य पाता है; सारे प्राणी जीवन पाते हैं; पवन ठंडक तथा वृक्ष नया रस प्राप्त करते हैं और भूमि प्रचुर स्निग्धता पाती है। किन्तु इतना होने पर भी जलधर का सुहृद् केवल मयूर ही बना है। इससे यह सत्य अभिव्यक्त होता है कि हृदय भिन्न होता है और आवश्यकता भिन्न।

(वि० सं० २०११ चातुर्मास बम्बई)

## ७ : समुद्राष्टकम्

जलकणैर्विहितो जलधिर्महान्,  
विपुलता फलिता ललिता ततः।  
पुलिनबिन्दुमुपेक्ष्य स गच्छति,  
किमिति हा ! महिमा महतामसौ ॥१॥

पानी की बूंदों ने समुद्र को महान् बनाया और उन्हीं के कारण उसकी विपुलता फलित हुई। किन्तु समुद्र बूंदों की उपेक्षा कर चला जा रहा है।<sup>१</sup> क्या महान् व्यक्तियों की यही महत्ता है ?

जलनिधे ! सरितामपकर्षणं,  
सृजसि तेन महानिति गोयसे।  
वत ! निरर्थकसंग्रहपद्धति-  
रुपनतास्ति तथा जगती दुता ॥२॥

समुद्र ! तुम नदियों का अपकर्षण कर महान् बने हो। खेद है कि निरर्थक संग्रह की पद्धति चल रही है, इसीलिए विश्व पीड़ित हो रहा है।

बहुलता न भवेन् मधुरा क्वचि-  
उजलधिरेष विभाति निदर्शनम्।  
मधुरिमा सृजति ध्रुवमल्पतां,  
जलद एष विभाति निदर्शनम् ॥३॥

- 
१. जब समुद्र की लहरें तट से टकराती हैं, तब कुछ बूंदें इधर-उधर बिखर जाती हैं। कवि कहता है कि वह समुद्र इन बूंदों की परवाह किए बिना ही चला जाता है।



अधिकता कहीं भी मधुर नहीं होती, इसका स्पष्ट उदाहरण है समुद्र और ल्पता मधुरता का सृजन करती है, इसका उदाहरण है बादल ।

जलनिधिर्वसुधामुपसर्पति,  
सुरपथं लहरी परिचुम्बति ।  
न खलु वेत्ति कृशानुभवा हि सा,  
न तु नुताऽपि च शून्यगतोच्चता ॥४॥

समुद्र भूमि पर उपसर्पण करता है और तरंग आकाश को छूने लगती है । उसका अनुभव थोड़ा है । वह नहीं जानती कि दूसरे द्वारा प्रेरित किए जाने पर भी गून्य को उच्चता प्राप्त नहीं होती ।

नयसि नयति निम्नं यद् गुरुं त्वं तुलापि,  
प्रकटमहहदोषोऽयं द्वयोर्निविशेषः ।  
तदिह न तुलितो नो तोयबाहुल्ययोगात्,  
सदृशचरितयुग्मे कः कथं तोलयेत् कम् ॥५॥

समुद्र ! जिस प्रकार तुम भारी वस्तु को नीचे ले जाते हो उसी प्रकार तुला भी भारी वस्तु को नीचे ले जाती है । दोनों में यह दोष स्पष्ट और समान है । इसीलिए तुम अभी तक तुलित नहीं हुए हो । तुम विशाल जलराशि हो इसलिए नहीं तुले, ऐसा नहीं है किन्तु जहाँ दोनों सदृश चरित्र वाले हों, वहाँ कौन किसे तोले ?

भवति च नववेला मूर्तसंघर्षवेला,  
तदिह जलधिवेला काल एव प्रमाणम् ।  
अमितसलिलराशिर्नैकधा याति याति,  
दृषदि दृषदि रुद्धो दुर्लभो हि विकासः ॥६॥

यह स्पष्ट है कि नई वेला संघर्ष की वेला होती है । इसका प्रमाण है ज्वार-भाटे का समय । उस समय अमित जलराशि अनेक बार तट पर आ टकराती है और चली जाती है । उसका गमन और आगमन चट्टानों से अवरुद्ध होता है । यह सच है कि विकास अत्यन्त दुर्लभ होता है ।

कथय कथय विद्या क्वाम्बुधे ! सावधीता,  
चपलपवनलोलोऽपि स्थितिं लंघसे न ।

न खलु न खलु विद्यामंदिरे मानवानां,  
मिलति कठिनकाले स्वव्रताभ्यासशिक्षा ॥७॥

समुद्र ! तुम चपल पवन के द्वारा चंचल होने पर भी अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ते। तुम मुझे यह बताओ कि तुमने यह विद्या कहां से सीखी ! आज के विद्यालयों में मनुष्यों को आपत्तिकाल में भी अपने व्रतों में दृढ़ रहने की शिक्षा कहां मिलती है ?

सलिलमपि सुधा स्याद् मन्थनेनेति तत्त्व-  
ममृतमपि विषं स्याद् रूढवृत्त्येति तथ्यम् ।  
उदधिरपि समन्थोऽमृत रत्नानि सूक्तिः,  
विगलितपरिवर्तः क्षारतामेष याति ॥८॥

मन्थन से पानी भी अमृत बन जाता है और रूढ़—अवरूढ़ होने से अमृत भी विष हो जाता है—ये दोनों तथ्य हैं। समुद्र का मन्थन किए जाने पर उसने रत्न दिए। किन्तु जब मन्थन रुक गया, उसमें परिवर्तन होना बन्द हो गया, तब वह पड़ा-पड़ा खारा बन गया।

(वि० सं० २०११ चातुर्मास बम्बई)

## ८ : दुर्जनचेष्टितम्

कोपारुणमिव रक्तं  
 भूत्वा त्वामीक्षतेऽहं यत्पद्मम् ।  
 तदपि हि तेन प्रीतिं  
 कुरुषे भानो ! ऽत्र वैचित्र्यम् ॥१॥

हे सूर्य ! यह कमल तुम्हें क्रोधारुण होकर देख रहा है, फिर भी तुम उससे प्रेम करते हो, यह वैचित्र्य है ।

अम्बुज ! किं पश्यसि नो,  
 दुराचरितं त्वममुष्य गगनमणोः ।  
 त्वया सृजन्नपि मैत्रोः,  
 ब्वदुत्पत्तिहेतु शोषयति ॥२॥

कमल ! तुम क्या इस सूर्य के दुराचरण को नहीं देखते ? वह एक ओर तुम्हारे साथ मैत्री करता है और दूसरी ओर तुम्हारी उत्पत्ति के मूल कारण— कीचड़ को सुखाता है ।

मा विश्वसिहि मधुकृन् !  
 मदर्थमिन्दीवरं प्रफुल्लमिति ।  
 एतत्सवितुर्दर्शन-  
 लालसमेवं स्फुटीभवति ॥३॥

भ्रमर ! तुम कभी यह विश्वास मत करना कि यह कमल मेरे लिए खिला है । सच तो यह है कि यह कमल सूर्य के दर्शन करने की लालसा से खिला है, तुम्हारे लिए नहीं ।

कस्यचिदेवं वचन-  
श्रवणात् तरणिर्जगाम सहसाऽस्तम् ।  
संकुचितं नलिनेन,  
गतमन्यत्र द्विरेफेण ॥४॥

किसी दुर्जन व्यक्ति के ये वचन सुनकर सूर्य अस्त हो गया, कमल सिकुड़ गया और भ्रमर अन्यत्र चला गया । (यह देख दुर्जन व्यक्ति अत्यन्त प्रसन्न हुआ ।)

विरट् सोढुमनीश,  
इव रविरुदितः प्रकाशते कमलम् ।  
भृङ्गो गुञ्जारवति,  
निष्फलस्तन्मनोरथतरुः ॥५॥ ।

विरह को सहने में असमर्थ होता हुआ सूर्य पुनः उदित हुआ, कमल खिल उठा और भौंरा गुंजारव करने लगा । यह देख उस दुर्जन व्यक्ति का मनोरथ निष्फल हो गया ।

(वि० सं० १९९८ चांपासनी)

## ६ : पितृप्रेम

नीरं मत्तो नीतं,  
नाश्रयोऽपि वर्तने तव क्वापि ।  
आकृत्याऽपि श्यामो,  
गर्जसि कस्मान् मुधा मेघ ! ॥१॥

समुद्र ने कहा—‘मेघ ! तुमने पानी मेरे से लिया है । तुम्हारा कहीं भी आश्रय नहीं है । तुम आकृति से भी काले हो, फिर भी तुम व्यर्थ ही क्यों गरजते हो ?

क्षारं मधुरं कृत्वा,  
तव वारि तेनैव संतोष्य जनान् ।  
पुनरपि ते वितरामि,  
तस्माद् गर्जाम्यहं न मुधा ॥२॥

मेघ ने कहा—‘समुद्र ! तुम्हारे खारे पानी को मीठा बनाकर लोगों को देता हूँ और उससे वे संतुष्ट होते हैं । वही पानी तुम्हें (नदी-नाले के माध्यम से) पुनः वितरित कर देता हूँ । इसीलिए मैं गर्जन करता हूँ । मैं व्यर्थ ही नहीं गर्जता ।

पुत्रस्तव सकलंक-  
स्तनुजा चपला च तत्पतिः कृष्णः ।  
क्षारमयः सकलोऽसि,  
गर्जसि कस्मान् मुधा सिन्धो ! ॥३॥

मेघ ने कहा—‘समुद्र ! तुम्हारा पुत्र चन्द्रमा सकलंक है, पुत्री (लक्ष्मी) चपल है और उसका पति कृष्ण है—काला है । तुम सर्वात्मना क्षारमय हो । इतना होने पर भी तुम व्यर्थ ही क्यों गर्जन करते हो ?

जगदानंदविधायी,  
परोपकाराय जगति चतुरतरः ।  
तव तुल्यो मम तनुजः,  
तस्माद् गर्जाम्यहं न मुधा ॥४॥

समुद्र ने कहा—‘मेघ ! जगत् को आनन्दित करने वाले, परोपकार करने में अत्यन्त पटु तुम भी तो मेरे ही पुत्र हो । इसीलिए मैं गर्जन करता हूँ । मेरा गर्जना व्यर्थ नहीं है ।

(विं० सं० १९६८ माघ—मेलूसर)

## १० : निकषरेखा

### दीप

दीप ! प्रकाशयसि रे परवस्तुजातं,  
द्रष्टुं स्वरूपमपि यद् मुकुरे यतस्व ।  
स्नेहापशोषणतया त्वयि भास्वरेऽपि,  
यः कालिमा न हि कलङ्कपदं किमत्र ॥१॥

दीप ! तुम दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करते हो । तुम अपना स्वरूप कांच में देखने का यत्न करो । तुम स्वयं चमकीले हो, किन्तु स्नेह (तैल) का शोषण करने के कारण तुम्हारे में कालिमा आ गई है । क्या यह तुम्हारे लिए कलंक नहीं है ?

आलोकवानसि वरं गृहरत्न ! किन्तु,  
कीर्त्ति न गातुमभिमानिवरोऽहमिच्छुः ।  
कान्ताकरागुलिविकम्पनमध्यवासि,  
त्वज्जीवनं च मरणं किमिदं तवार्हम् ॥२॥

हे प्रदीप ! तुम प्रकाशवान् हो, किन्तु स्वाभिमानी मैं तुम्हारी कीर्ति का गान नहीं करना चाहता । क्योंकि तुम्हारा जीवन और मरण स्त्री की अंगुलि के कंपन पर टिका हुआ है । क्या यह तुम्हारे योग्य है ?

तैलं पूर्णं वर्त्तिरुच्चैः कृतास्या,  
सूक्ष्मो वातः पावकः पावनात्मा ।  
चित्रं चित्रं नो तथापि प्रदीपो,  
वृत्तस्तोमं भूमिसाद् यत्तनोति ॥३॥

दीपक में तैल भी है और ऊंचा मुंह किए खड़ी बाती भी है । मन्द पवन चल

रहा है। पवित्र ज्योति जल रही है। यह आश्चर्य है कि फिर भी दीपक अंधकार को नष्ट नहीं कर रहा है।

## सूर्य

सातङ्गं कुरुषेऽथ भूगृहमहो रे कोऽसि ? भास्वानहं,  
छिद्रान्वेषक ! किं तवास्त्यविषयः पृष्ठं न मे मुञ्चसि ।  
दोषं पश्यसि नात्मनः कथमरे ! पश्यन्न वा पश्यसि,  
विघ्नस्त्वं मम साम्यकर्मणि हहा ! धिक् पापिनां चेष्टितम् ॥४॥

सूर्य ने अंधकार से कहा—‘अरे ! तुम इस भोहरे को आतंकित करते हो ?’  
अंधकार ने पूछा—‘तुम कौन हो ?’ सूर्य ने कहा—‘मैं सूर्य हूँ।’ अंधकार बोला  
—‘छिद्रान्वेषक ! ऐसा कोई विषय है, जिसे तुम नहीं छूते ? तुम मेरा पीछा  
क्यों नहीं छोड़ते ?’ सूर्य ने कहा—‘अरे ! तुम अपना दोष नहीं देखते या देखते  
हुए भी नहीं देखते।’ अंधकार ने कहा—‘मेरे अस्तित्व में समता का साम्राज्य  
रहता है—कोई ऊंचा-नीचा, काला-गोरा नहीं दीखता। सूर्य ! तुम मेरे इस  
समता-कार्य के विघ्न हो।’ धिक्कार है दुष्ट व्यक्तियों की चेष्टाओं को !

ग्रीष्मे भानोररुणकिरणैः शुष्यमाणे हि पंके,  
सम्यग्बुद्धं विकलनिनदैर्भास्वतां कर्मकाण्डम् ।  
क्षुद्रोद्दारे श्रयति सलिलं स्वात्मना गर्तवासं,  
तेनैवाद्य प्रकृतिमुखरैर्दुर्दुरीयमानम् ॥५॥

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य तेज किरणों से तप रहा था। उसके ताप से कीचड़ सूखने  
लगा। तब उस कीचड़ में बसने वाले मेंढकों ने व्याकुल शब्दों में कहा—‘हमने  
प्रकाशवान् व्यक्तियों के कर्मकाण्ड को देख लिया है। वे दूसरों को कष्ट देने में रस  
लेते हैं।’ इतने में उन क्षुद्र जीवों का उद्धार करने की कामना से पानी ने अपने  
आपको नीचे गढ़े में गिराया और तब मेंढक हर्षित हो उठे। इसीलिए आज  
भी वर्षाऋतु में प्रकृति से वाचाल मेंढक पानी का यशोगान गाते रहते हैं।

सूर्याच्छादयसि ग्रहाननुकृतिर्दीपस्य वा प्राकृतं,  
मन्ये कश्चन नास्ति ते प्रियसुहृद् यस्त्वां हिते योजयेत् ।  
जातिद्वेषपरम्परा विकसिता नीचेन तत्कर्मणा,  
हस्यन्ते तिमिरेऽपि दृश्यतनुभिस्तेजांसि ते तारकैः ॥६॥



सूर्य !तुम सब दूसरे ग्रहों को आच्छादित कर देते हो। यह दीप का अनुकरण है या तुम्हारा स्वभाव ? मैं मानता हूँ कि तुम्हारा कोई मित्त नहीं है जो कि तुम्हें हितकारी कार्य में योजित कर सके। तुम्हारी इस नीच क्रिया से जाति-द्वेष की परम्परा विकसित हुई है। इसी बात से ये अंधकार में दीखने वाले तारे तुम्हारे तेज की हंसी उड़ा रहे हैं।

## तटस्थ

आलोकं स्वस्य पूषा प्रथयति पृथुलं वासरे भास्वरात्मा,  
रात्रौ गाढान्धकारं प्रसृमरकरणं गाहते भूमिमेताम्।  
नालोको नान्धकारो भवति च समयः सन्धिवेलैव तादृग्,  
दोषैर्मुक्ता यदि स्युर्न खलु गुणगणैश्चापि के ते तटस्थाः ॥७॥

सूर्य प्रकाशी है। वह दिन में विपुल प्रकाश को फैलाता है। रात्रि में सघन और व्यापक तमोमय शरीरवाला अन्धकार सारी पृथ्वी पर फैल जाता है। संध्या-काल ही एक ऐसा समय है, जिसमें न अंधकार होता है और न प्रकाश। ऐसे कौन तटस्थ व्यक्ति हैं जो दोष-मुक्त हों और साथ-साथ गुण से भी शून्य न हों ?

## लक्ष्मी

स्वकीयाः परकीयाः स्युः,  
परकीया अपि स्वकाः।  
विरहेऽविरहे पद्मे!,  
तव केयं विचित्रता ॥८॥

लक्ष्मी ! तुम्हारे अभाव में 'अपने' 'पराए' हो जाते हैं, और तुम्हारे भाव में 'पराए' भी 'अपने' हो जाते हैं। यह तुम्हारी कैसी विचित्रता !

पद्मे ! कृथा मेति वृथाभिमानं,  
मत्स्पर्शतो ही मनुजा मदान्धाः।  
यत्राऽविवेकस्य भवेन्नसङ्गो,  
न तत्र शक्तिः सफला तवैका ॥९॥

लक्ष्मी ! तुम यह झूठा अभिमान मत करो कि तुम्हारे स्पर्श से मनुष्य

मदान्ध हो जाते हैं। जहाँ आवक नहा हाता वहाँ तुम्हारी एक भी शक्ति सफल नहीं होती।

क्षीरोदतनये ! त्वयि,  
कटुताऽस्ति न वेत्ति वेत्ति तव रसिकः ।  
व्यक्तं पश्याम्यस्मिन्,  
नो जाने तेऽस्य वा दोषः ॥१०॥

लक्ष्मी ! तुम्हारे में कटुता है या नहीं, यह तुम्हारा रसिक व्यक्ति ही जान सकता है। मैं स्पष्ट देखता हूँ कि तुम्हारे रसिक में कटुता होती है। मुझे नहीं पता कि यह दोष तुम्हारा है या उसका ?

### लाघवम्

लघुं यदुच्चैर्नयसे गुरुञ्च,  
नीचैस्तुले ! ऽयं तव दोष उक्तः ।  
लघुत्वमुच्चैर्गमनस्य हेतुः,  
किन्नेति शिक्षेत जनस्ततोऽपि ॥११॥

हे तुले ! तुम लघु (हल्की) वस्तु को ऊपर और गुरु (भारी) वस्तु को नीचे ले जाती हो, यह तुम्हारा दोष है।

तुला ने कहा—अरे ! मेरे इस कार्य से क्या जनता इतना भी नहीं सीख सकती कि लघुता (हल्कापन) ऊपर जाने का हेतु है ?

### विवेक

पयोधरस्य संततिस्तता सरोवरादिकै-  
र्हंठात् स्वमध्यगापि यन्निरर्थकं बहिष्कृता ।  
प्रयोजनं विनाप्यहो धृताम्बुराशिना स्वयं,  
परः परः स्वकः स्वकः प्रतीयते ततो जनैः ॥१२॥

मेघ ने विपुल धाराओं से पानी बरसाया। सरोवर ने उस पानी को लिया किन्तु जो निरर्थक था उसे बाहर ढकेल दिया। समुद्र ने यह देखा। उसने बिना

प्रयोजन के ही उस पानी को अपने में समा लिया। यह सच है—आखिर अपना अपना होता है और पराया पराया।

## माधुर्यम्

जीवनहरणं स्तनितं,  
वर्षणमात्मनीत्यादि घनकार्यम् ।  
सर्वं सहते सिन्धु-  
मधुरीकरणगुणमैक्ष्यैकम् ॥१३॥

मेघ का कार्य है—समुद्र से पानी चुराना, गर्जना और वर्षा करना। समुद्र यह सब इसलिए सहता है कि मेघ में खारे पानी को मीठा बनाने का एक महान् गुण है।

## कवि-दार्शनिकसंगमः

आनन्दस्तव रोदनेऽपि सुकवे ! मे नास्ति तद्व्याकृतौ,  
दृष्टिदर्शनिकस्य संप्रवदतो जाता समस्यामयी ।  
किं सत्यं त्वितिचिन्तया हृतमतेः क्वानन्दवार्ता तव,  
तत् सत्यं मम यत्र नन्दति मनो नैका हि भूरावयोः ॥१४॥

एक दार्शनिक ने कवि से कहा—‘कविशेखर ! तुम्हारे रोने में भी आनन्द है और आनन्द की व्यवस्था करने में भी मुझे आनन्द नहीं आता। मैं जैसे-जैसे आनन्द को समझने और उसकी व्याख्या करने का प्रयास करता हूँ, वैसे ही मेरी दृष्टि समस्याओं से भर जाती है।’

कवि ने कहा—‘दार्शनिक ! तुम इस बात में उलझ जाते हो कि सत्य क्या है ? तुम्हारी बुद्धि उसी में लग जाती है। तुम्हारे लिए आनन्द की बात ही कहां ? किन्तु मेरा अपना सूत्र यह है कि जिसमें मन आनन्दित हो जाए, वही सत्य है। इससे मेरे लिए सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। दार्शनिक ! तुम्हारी और मेरी भूमिका एक नहीं है।’

## महतां कष्टम्

लम्बन्ते तारकास्ते विशदरचितयः शून्यतायामिदानीं,  
भ्राम्यन्त्यद्यापि नित्यं विकलवसतयो भास्करख्यातिधुर्याः ।  
ते के सन्तो जगत्यां परहितनिरता ये न जीवन्ति कष्टं,  
सौख्यं दुष्टान् वृणोति प्रकृति कलुषितान् यत्तमः शांतिसर्गम् ॥१५॥

ये प्रकाशशील तारे शून्य आकाश में लटक रहे हैं। अन्यान्य प्रकाशशील ग्रह भी आज तक इधर-उधर घूमते रहे हैं। जगत् में ऐसे कौन व्यक्ति हैं जो परोपकार करते हुए कष्ट का जीवन नहीं जीते? सुख प्रकृति से कलुषित दुष्ट व्यक्तियों का वरण करता है। अन्धकार शांति का सृजन करता है।

## जाड्यम्

द्वारि द्वारि प्राप्त आलोक एष,  
स्नायं स्नायं सूर्यरश्मिप्रताने ।  
कुड्ये किञ्चिन्नावकाशं लभेत,  
प्रायो जाड्यं ह्यन्धकारानुयायि ॥१६॥

सूर्य के रश्मि-समूह में नहाकर द्वार-द्वार पर यह आलोक आया है। यह भीतों में प्रवेश नहीं पा रहा है; क्योंकि जड़ (अवरोध पैदा करने वाले) प्रायः अन्धकार का अनुगमन करते हैं।

## कियान् प्रभेदः ?

अनन्तलीला प्रथमे क्षणे तु,  
छदौ गृहाणां स्थितिरुत्तरस्मिन् ।  
दिने च रात्रौ च कियान् प्रभेद,  
इदं कपोता हि विदन्ति नान्ये ॥१७॥

कबूतर दिन में तो अनन्त आकाश में उड़ते हैं और रात में घर के छज्जों पर आ बैठते हैं। दिन और रात में कितना अन्तर होता है—यह वे ही जान सकते हैं, दूसरे नहीं।

## प्रकीर्णम्

न दृष्टोऽध्वा ध्वान्ते वपुरिदमपि स्थूलमतुलं,  
 तुषारस्पर्शनावयवजडभावं गतवती ।  
 प्रमीला निद्राणे सति जगति लब्धाभयपदा,  
 निशा मन्दं मन्दं व्रजति यदि पौषे किमधिकम् ? ॥१८॥

पौष के महीने में रात धीरे-धीरे चलती (बीतती) है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? वह सघन अंधकार में अपना मार्ग नहीं देख पाती और उसका शरीर भी स्थूल होता है (रातें बहुत बड़ी होती हैं)। शीत के स्पर्श से उसके सारे अवयव जड़ हो जाते हैं। सारे लोग नींद में सोए रहते हैं और तब वह रात बिना किसी भय के धीरे-धीरे चलती है।

रे रे खर ! तूष्णीं भव,  
 दृष्टं तवककौशलम् ।  
 दुर्लभा वाग्मिता चेत्ते,  
 कर्णौ किं सुलभौ नृणाम् ॥१९॥

एक बार गधा सामने से रेंकता हुआ आया। तब कवि ने कहा—गधे ! मौन हो जा। मैंने तेरे बोलने का कौशल देख लिया। यदि तेरी यह वाचालता दुर्लभ है तो क्या मनुष्यों के कान सुलभ हैं ?

अन्धोऽसि तेन जगता न विगर्हणीय-  
 स्तेनैव विश्वभुवनेऽसि यदन्धकार ! ।  
 दोषोऽपि नापरजनान् परिपीडयन् ही,  
 कारुण्यभाजनमलं सुजनाशयेषु ॥२०॥

हे अन्धकार ! तुम अन्धे हो इसीलिए सारे संसार में गर्हणीय नहीं हो। जो दोष दूसरों को पीड़ित नहीं करता, वह सुजन व्यक्तियों के लिए करुणा का पात्र होता है।

निन्दामर्हति सोऽर्थवादलुभितः श्लाघा न तं लिप्सते,  
 श्लाघ्यस्तत्र विरक्तिमानऽहं कियत् कष्टा सतीनां गतिः ।  
 निन्दां दुर्जनकामितां स्वविषयां ज्ञीप्सेद् मुदा सज्जनो,  
 दुष्टानां खलु जीवितं सुमहतामेकाङ्गिपक्षे स्थिरम् ॥२१॥

## ४० अतुला तुला

जो प्रशंसा का लोभी है वह निन्दा के योग्य है। श्लाघा उसके पास जाना नहा चाहती। और जो प्रशंसा का लोभी नहीं है, वह श्लाघा के योग्य है। पर वह श्लाघा को नहीं चाहता। आश्चर्य है, सतियों (यहां श्लाघा सती के रूप में कल्पित है) की गति कितनी कष्टप्रद होती है !

सज्जन मनुष्य दुर्जन के द्वारा कामित स्वविषयक निन्दा को खुशी से जानना चाहता है, क्योंकि दुष्ट व्यक्तियों का जीवन महान् पुरुषों के एकांगी पक्ष पर ही स्थिर रहता है।

गौरवं तु गुरोर्भावो,  
लाघवं च निजात्मनः ।  
परवस्तुनि कः कुयाद्,  
ममत्वं मतिमान् पुमान् ॥२२॥

गौरव गुरु का भाव है। लघुता अपनी निजी वस्तु है। कौन मतिमान् मनुष्य पर-वस्तु में ममत्व करेगा ?

अस्तंगते सवितरि प्रतिभाति चन्द्र-  
श्चन्द्रेस्तमाव्रजति भाति सहस्रभानुः ।  
चित्रं किमत्र जगतः खलु रीतिरेषा,  
कश्चिन्नयत्युदयमस्तमिर्यति कश्चित् ॥२३॥

सूर्य के अस्त होने पर चन्द्रमा उदित होता है और चन्द्रमा के अस्त होने पर सूर्य उदित होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि संसार की यह रीति है कि कोई उदित होता है और कोई अस्त।

वीरोस्म्यहं विश्वजयीति बन्धो !,  
मुघाऽभिमानं कुरु मा स्वचित्ते ।  
जेतुं न शक्यः कुसुमायुधोपि,  
त्वया त्वनङ्गोपि धनेषुणापि ॥२४॥

हे बंधो ! तुम अपने चित्त में यह व्यर्थ अभिमान मत करो कि मैं वीर हूँ, विश्वविजेता हूँ। देखो, तुम अपने बाणों से उस अनंग (बिना शरीर वाले) तथा फूलों का आयुध रखने वाले कामदेव को भी नहीं जीत सके हो।

नायं चिन्त्यः शुक्तिगो वारिबिन्दुः,  
कालं लब्ध्वा मौक्तिकं भावि रम्यम् ।  
दृष्ट्याऽलक्ष्ये विन्दमाने सदाभा,  
नाशाशाखी छिन्नमूलोऽवगम्यः ॥२५॥

सीप में गिरा हुआ पानी का बिन्दु समय के परिपाक से सुन्दर मोती बन जाता है, यह कोई अनहोनी बात नहीं है। आभा का अस्तित्व दृष्टि से लक्षित भले न हो, किन्तु उसमें आशा का वृक्ष छिन्नमूल नहीं होता। वह कभी न कभी फल जाता है।

विचारशक्तिर्न च वाचि जाता,  
विचारणा नापि च जल्पनाहर्हा ।  
न प्रातिनिध्यं किल चेतनस्य,  
जडो विदध्यान् नियमः कृतोऽयम् ॥२६॥

वाणी में विचारशक्ति नहीं होती और विचार बोलने में समर्थ नहीं होता। यह अटल नियम है कि जड़ चेतन का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

स्वतंत्रतायां न करप्रसारः,  
परस्य सहो वपुषेत्यघोषि ।  
तेनैव मन्ये मननेऽभिधाने,  
तथा क्रियायां न हि साम्यमस्ति ॥२७॥

अपनी स्वतन्त्रता में दूसरों का हस्तक्षेप सह्य नहीं होता—शरीर ने यह घोषणा की। इसीलिए मैं मानता हूँ कि मन, वाणी और क्रिया में कोई साम्य नहीं है।

चेतोग्राह्यं कथमपि न वागोशतामेति वक्तुं,  
वाचां वाच्ये भवति मनसः सर्वथा स्वीकृतिर्न ।  
नान्यः कश्चित् प्रतिनिधिरपि प्रांशुभावोऽनयोश्च,  
गम्यं भावं व्रजसि सुधिया तत्सखे ! याहि रम्यम् ॥२८॥

चित्त के द्वारा ग्राह्य विषय को कहने में वाणी असमर्थ है और जो वाणी के द्वारा वाच्य है वह सब मन के द्वारा स्वीकृत नहीं होता। इन दोनों का कोई उच्चचेता प्रतिनिधि भी नहीं है। हे सखे ! तू बुद्धि के द्वारा जिस गम्य-भाव को

प्राप्त होता है, उस ओर जा। यही तेरे लिए अच्छा है।

जानामि सोऽयं पुरुषो मनीषी,  
मन्ये न वात्माभ्यधिकं तथापि।  
पूर्वस्य हेतुस्तदभिज्ञता च,  
परस्य हेतुश्च ममाभिमानः ॥२६॥

मैं जानता हूँ कि वह व्यक्ति मनीषी है, फिर भी मैं उसे अपने आपसे अधिक नहीं समझता। उसको मनीषी मानने का हेतु है उसकी विद्वत्ता और उसे मुझसे अधिक मनीषी न मानने का हेतु है मेरा अपना अभिमान।

त्वामन्वेषयितुं गतो बहिरहं त्वं नागमो दृश्यता-  
मन्तःस्थोऽभवमाशु मामुपगतः प्राप्तश्चिरं विस्मयम्।  
स्थूलोऽहं त्वमभूर्लघुर्लघुरहं त्वं स्थूलतामाश्रितो,  
देवेत्थं शिशुना शिशुत्वमुपयन् स्वस्थाविरं नावसि ॥३०॥

देव ! मैं तुम्हें ढूँढने के लिए बाहर गया, किन्तु तुम वहाँ नहीं मिले। मैं अन्दर आया और तुम मुझे शीघ्र ही प्राप्त हो गए। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। मैं स्थूल हुआ तो तुम सूक्ष्म हो गए और जब मैं सूक्ष्म हुआ तो तुम स्थूल हो गए। देव ! तुम बच्चे के साथ इस प्रकार बचपन करते हुए अपने स्थविरत्व की रक्षा कर सकोगे ?

गुरुत्वमन्तःकरणे प्रविष्टं,  
लघुत्वमापादयते जनानाम्।  
लघुत्वमन्तःकरणे प्रविष्टं,  
गुरुत्वमापादयते जनेषु ॥३१॥

प्राणियों के अन्तःकरण में गुरुत्व (बड़प्पन) आते ही वह उन्हें लघु बना देता है और अन्तःकरण में लघुत्व आते ही वह उन्हें गुरु बना देता है।

प्राप्तो नो परमेश्वरः कथमिदं लब्धो न मार्गो मया,  
लब्धः किन्न गुरुर्न लब्ध उचितं मार्गं दिशेद् यः शुभम्।  
लब्धः किन्न मयैषणा नहि कृता किं नो कृता भावना,  
नोत्पन्ना न कथं न चोत्तमजनैः संपर्कमायातवान् ॥३२॥



‘मुझे परमेश्वर नहीं मिला ।’

‘क्यों, यह कैसे ?’

‘क्योंकि मुझे मार्ग प्राप्त नहीं हुआ ।’

‘मार्ग क्यों नहीं मिला ?’

‘ऐसा गुरु नहीं मिला जो मुझे कल्याणकारी मार्ग दिखा सके ।’

‘गुरु क्यों नहीं मिला ?’

‘मैंने उनकी खोज ही नहीं की ।’

‘क्यों ?’

‘मेरे में ऐसी भावना ही उत्पन्न नहीं हुई ।’

‘भावना उत्पन्न क्यों नहीं हुई ?’

‘क्योंकि मैं कभी उत्तम व्यक्तियों के सम्पर्क में आया ही नहीं ।’

## ११ : विश्वासात्मा

देहासक्तिर्वत ! बलवती क्षीणमङ्गं चकार,  
रुष्टो राजा सचिवमनुयन् गुप्तचेतःप्रकाशम् ।  
वाच्ये लज्जा भवति च भयं गोपने राजरोषः,  
कार्याकार्ये तमिह परितो निन्यतुर्दिग्विमोहम् ॥१॥

(मन्त्री रानी के प्रति आसक्त हो गया) रानी के प्रति बड़ी हुई आसक्ति से सचिव का शरीर क्षीण होने लगा । राजा ने उसके मन की बात जाननी चाही । किन्तु सचिव ने रहस्य का उद्घाटन नहीं किया । राजा कुपित हो गया । सचिव को अपना रहस्य बताने में लज्जा और उसका गोपन करने में राजरोष का भय था । कार्य और अकार्य के द्वन्द्व ने उसे चारों ओर से दिग्मूढ बना दिया ।

सन्देहानां सरसि सहसा भिद्यमानेन्तरात्मा,  
दृश्यः स्पृश्यो भवति सचिवश्चापि राज्ञस्तथाभूत् ।  
विश्वासोऽपि श्वसिति सुतरां प्राप्य विश्वासमुच्चैः,  
श्वासः श्वासं विसृजति न वा श्वासरोधो हि हन्ति ॥२॥

सन्देहों का तालाब टूटने पर अन्तरात्मा दीखने लगती है और उसका स्पर्श होने लगता है । सचिव ने अपना हृदय खोला और राजा ने सब कुछ जान लिया । दृढ़ विश्वास को पाकर ही विश्वास श्वास लेता है । श्वास ही श्वास को छोड़ता है । श्वास का निरोध प्राणों को ले लेता है ।

तुच्छत्वं नो किल विलयते तुच्छतायां कदाचित्,  
तन् माहात्म्ये व्रजति विलयं रीतिरेषा प्रसिद्धा ।  
राज्ञश्चेतः सुरसरिति सा मन्त्रिणस्तुच्छताया,  
धारा लीनाऽभवदुदयनं प्राप तस्मिन् महत्वम् ॥३॥

तुच्छता तुच्छता में कभी विलीन नहीं होती। वह महानता में ही विलीन हो पाती है। यह विश्रुत विधि है। सचिव की तुच्छता की धारा राजा की मानस-गंगा में लीन हो गई और तब महत्त्व का उदय हुआ।

विश्वासस्य क्षिपति सचिवे कण्ठपीठे कुठारं,  
विश्वासात्माऽकृत नरपतिस्तस्य हस्तावरोधम्।  
क्रूरं द्वन्द्वं भवति रभसा मृत्युना जीवनस्य,  
कश्चित् कश्चित् क्षण इह भवेत्तादृशः कालचक्रे ॥४॥

विश्वास की पीठ में छुरा भोंकने वाले सचिव का हाथ विश्वासात्मा राजा ने थाम लिया। इस कालचक्र में कभी-कभी ऐसा क्षण आता है जब जीवन का मृत्यु के साथ क्रूर द्वन्द्व होने लगता है।

(रानी राजा के आदेश से सचिव के प्रासाद में उपस्थित हुई। सचिव का मन ग्लानि से भर गया। उसने कुठार से आत्महत्या का प्रयास किया। गुप्त-द्वार से झाँकते हुए राजा ने सोचा—यह कुठार सचिव की नहीं किन्तु विश्वास की हत्या करेगा। राजा ने सचिव का हाथ पकड़ लिया।)

(वि० सं० २०२० आश्विन, लाडनू)

## १२ : पद्मपञ्चदशकम्

यैः परमाणुभिरुत्पन्नस्त्वं  
मृदुलसरोरुह ! तेऽन्यत्रापि ।  
प्राप्यन्ते वा न हि प्राप्यन्त,  
इत्यवगन्तुं मे प्रबलेच्छा ॥१॥

कमल ! तुम अत्यन्त मृदु हो । जिन परमाणुओं से तुम्हारा निर्माण हुआ है,  
वे अन्यत्र प्राप्य हैं या नहीं, यह जानने के लिए मैं अत्यन्त उत्सुक हूँ ।

किन्त्वनुमाम्यणवस्तवकाय-  
सदृशा नो नीयन्तेऽन्यत्र ।  
किञ्च गुणास्त्वयि सर्वविशिष्टा,  
उपलभ्यन्तेऽनुपमा अन्यैः ॥२॥

किन्तु मेरा यह अनुमान है कि वैसे परमाणु अन्यत्र प्राप्य नहीं हैं । क्योंकि  
तुम्हारे में जो गुण हैं, वे दूसरों से विशिष्ट और अनुपम हैं ।

पङ्केप्युत्पत्तिं संप्राप्य,  
कालुष्यं नाद्रियसे यत्त्वम् ।  
तत्तव वैचित्र्यं कियदास्ते,  
सौवेऽप्यवगुणभाजि न पक्षः ॥३॥

कमल ! तुम कीचड़ में उत्पन्न होकर भी उसकी कलुषता से स्पृष्ट नहीं होते,  
यह तुम्हारी कितनी बड़ी विचित्रता है । अवगुणवान् यदि अपना भी है तो उसके  
प्रति तुम्हारा पक्षपात नहीं है ।

जडे नितान्तं सृजसि निवासं,  
तथापि जाड्यं नाङ्गीकुरुषे ।

मृदुलत्वं च जहासि न तद्वत्,  
तव वैशिष्ट्यं कियदेतत् स्यात् ॥४॥

तुम निरंतर जल (जड़) में निवास करते हो, परन्तु उसकी जड़ता को स्वीकार नहीं करते। तुम अपनी कोमलता को नहीं छोड़ते, यह तुम्हारी कितनी महान् विशेषता है।

त्वां विवशीकर्तुं यदि जाड्यं,  
तीव्रं रूपं स्वस्य करोति।  
तदपि ततो दूरं स्थातुं त्वं,  
प्राणानप्यर्पयसि विचित्रम् ॥५॥

तुमको विवश करने के लिए यदि जड़ता तीव्र रूप कर लेती है तब तुम अपने प्राणों को न्योछावर कर देते हो, पर मृदुता को नहीं खोते, यह कितना आश्चर्य है।

अस्तं गच्छति मित्रे सूर्ये,  
संकोचं तनुसे निजतनुषः।  
यावन्नोदयमेति पुनः स,  
तावत् कलयसि नात्मविकासम् ॥६॥

कमल ! सूर्य तुम्हारा मित्र है। जब वह अस्त हो जाता है तब तुम भी अपने-आपको संकुचित कर लेते हो। जब तक सूर्य पुनः उदित नहीं होता तब तक तुम अपने आपको विकसित नहीं करते।

माधुर्यं त्वयि कियदस्तीति,  
कुर्यादनुमानं को विद्वान्।  
तव धूल्यामपि लुठति नितान्तं,  
कविवल्लभरोलम्बकदम्बः ॥७॥

तुम्हारे में कितनी मधुरता है, यह भला कौन विद्वान् अनुमान कर सकता है ? देखो, कविजनों का प्रिय भ्रमर तुम्हारे पराग में निरंतर लुठता रहता है।

यश्चरणस्त्रिदशशकिरीट-  
मंजुलमणिसंघर्षणरक्तः ।

तस्याप्युपमानार्थं भुवने,  
त्वमेव योग्यं प्राप्तं कविभिः ॥८॥

कमल ! जो चरण इन्द्र के मुकुट की सुन्दर मणियों के संघटन से लाल हो जाते हैं, उन चरणों को उपमित करने के लिए कवियों ने तुम्हें ही योग्य समझा है।

दानं यो वितरत्यथिभ्यः,  
सम्मानं च कृपाप्राथिभ्यः ।  
तस्मै हस्ताय त्वामेव,  
विदधत्युपमापदमभिरूपाः ॥९॥

जो हाथ दानार्थी लोगों को दान देता है और कृपाकांक्षी लोगों को सम्मान प्रदान करता है, वह हाथ विद्वानों द्वारा तुम्हारी ही उपमा से उपमित है।

चित्रं चित्रं मुखनयनादेः,  
शरीरसारस्यावयवस्य ।  
उपमानं यत्त्वमेव जातं,  
किं सुकृतं कृतमिति जिज्ञासुः ॥१०॥

कमल ! मुख, नयन आदि शरीर के सारभूत सारे अवयवों के लिए तुम ही उपमान बने हुए हो। मैं यह जानना चाहता हूँ कि तुमने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है कि तुम ऐसे उपमान बन पाए हो ?

शरणं यातेभ्यः संकोचे,  
जातेऽपि स्थानं दातव्यम् ।  
इति शिक्षयितुं त्वं सन्मनुजान्,  
धरसि निशायामलि स्वकोशे ॥११॥

कमल ! तुम मनुष्यों को यह शिक्षा देते हो कि स्थान का संकोच होने पर भी शरणागत को स्थान अवश्य ही देना चाहिए। इसीलिए तुम रात में अपने कोश में भौरे को स्थान देते हो।

नैयायिकविदुरास्त्वयि रक्ताः,  
सन्ति नितान्तं यदऽभावेपि ।

तव जन्मेच्छव इति निगदन्ति,  
गगनेऽम्बुजकुसुमं किं न स्यात् ॥१२॥

कमल ! तर्कप्रवण लोक तुम्हारे में बहुत अनुरक्त हैं। वे अभाव में भी तुम्हारी उत्पत्ति देखना चाहते हैं। उनका तर्क है—यदि अभाव में कुछ हो तो आकाश में कमल का फूल क्यों नहीं खिलेगा ?

यत्र क्वापि जलाशयमात्रे,  
वर्णनीयमम्बुजमित्यर्थम् ।  
असन्नबंधः कृत इति किं रे !,  
काव्यशिक्षकाणां त्वयि मोहः ॥१३॥

जलाशय मात्र में कमल का वर्णन कर देना चाहिए—यह असद् निबंध कवि-समय (काव्य की आचार-सहिता) है। काव्य-शास्त्रियों का तेरे प्रति यह कितना मोह है ?

लक्ष्मीं किञ्चिदपि प्राप्यैव,  
शुष्कदारुवद् दारुणभावाः ।  
ये नमन्ति न हि मनुजास्तांस्तव,  
हसन्ति पुष्पाणि स्मितमिषतः ॥१४॥

जो व्यक्ति थोड़ी-सी लक्ष्मी पाकर भी सूखे टूठ की तरह अकड़ में रहते हैं और कभी नहीं झुकते, उन पर तुम्हारे फूल स्मित के मिष हंसते हैं।

शिक्षयन्ति भो ! भो ! द्रष्टव्य-  
मस्माकं च पितुर्वैशिष्ट्यम् ।  
स्वयं रमाऽस्मिन् वसति तथापि,  
मृदुलत्वं न जहाति कदापि ॥१५॥

ये फूल हमें सिखा रहे हैं कि हमारे पिता की विशेषता देखो, इसमें लक्ष्मी स्वयं निवास करती है, तो भी यह मृदुता को नहीं छोड़ता।

(वि० सं० १९९९ ज्येष्ठ—राजगढ़)

## १३ : अनुभवसप्तकम्

अस्मिन् दीर्घे पथि विहरता यत्र लब्धं तमिच्छं,  
 तत्रालोकः प्रसृतिमगमन्नाभिचक्रेऽनुदृष्टे ।  
 चित्ते स्थैर्यं गतवति ममाऽनाहते चक्रदेशे,  
 सर्वे प्राच्या जटिलगतयो ग्रन्थयो मोक्षमापुः ॥१॥

जीवन के इस लम्बे मार्ग में जहां मुझे अन्धकार दिखा, वहीं नाभिचक्र पर दृष्टि को एकाग्र करने से प्रकाश मिला । अनाहत चक्र पर चित्त को स्थिर करने पर मेरी सारी पुरानी और जटिल ग्रन्थियां खुल गईं ।

द्रष्टुं यत्नो न खलु विहितो दर्पणेस्मिन् स्थितीना-  
 मेतद् दृश्याकृतिषु बहुषु भ्रान्तिमध्यात्ममेति ।  
 आत्मादर्शो स्फुरति मनसश्चेष्टितं पुद्गलानां,  
 कर्तृत्वे हि प्रतिपलमसौ भ्रान्तिरेवानुभूता ॥२॥

स्थितियों के दर्पण में मैंने देखने का प्रयत्न नहीं किया । किन्तु इसमें दृश्य बहुत सारी आकृतियों में मैंने देखा तो मन भ्रान्ति से भर गया । मन की चेष्टाएं आत्मा के दर्पण में स्फुरित होती हैं । मैंने जब-जब उनमें पौद्गलिक कर्तव्य का आरोपण किया तब-तब मुझे भ्रान्ति का अनुभव हुआ ।

श्रद्धा बालाऽभवदनुगता यैश्च कैश्चापि तर्क-  
 स्तारुष्ये सा नयनपथगा दूरतः शङ्कितानाम् ।  
 वृद्धा जाता प्रवरयुवभिर्नेक्षितोपेक्षयेव,  
 लोकैः सर्वैः पटुपटुतरैर्व्यत्ययस्तरकारि ॥३॥

श्रद्धा जब बालिका थी तब वह जिन किन्हीं तर्कों के पीछे चलती थी । जब वह तरुणी हुई तब आशंकित तर्क उसे दूर से देखने लगे । जब वह वृद्ध हो गई तब



प्रवर तर्क-युवकों ने उसे देखा ही नहीं, उपेक्षा से टाल दिया। इस प्रकार पटु, पटुतर और पटुतम मनुष्य का तर्क के साथ उससे विपरीत व्यवहार होता है पटु मनुष्य का तर्क वृद्ध, पटुतर का युवा और पटुतम का बाल होता है।

उत्तं येन भ्रमवृतधिया बीजमुच्चैर्घृणाया-  
स्तस्यच्छाया परिणतविषा प्राक् तमेवाद्नुति ।  
प्रेम्णो बीजं प्रकृतिपुलकं पार्श्वगेषूप्यमानं,  
स्वस्मै दत्तेऽमृतमयफलं तादृगेवाऽपरस्मै ॥४॥

भ्रम से आवृत मतिवाले जिस व्यक्ति ने घृणा के बीज बोएँ, उससे उगने वाले वृक्ष की विषैली छाया पहले उसी व्यक्ति को पीड़ित करती है। अपने पास रहने वाले व्यक्तियों में जिसने प्रकृति-पुलक प्रेम का बीज बोया, वह स्वयं को भी अमृत का फल देता है तो दूसरों को भी वैसा ही फल देता है।

यो वा वृद्धानवगणयति प्राप्तकार्यावरोधान्,  
सोवज्ञातं सृजति निजकं वार्धकं दृष्टपार्श्वः ।  
आज्ञावज्ञां सृजति सुगुरोर्योऽनुजानां पुरस्तात् ।  
सोऽज्ञानेन स्ववचनमहो मूल्यहीनं करोति ॥५॥

जो व्यक्ति कार्य करने में अक्षम वृद्धजनों की अवगणना करता है, वह एक ही पार्श्व को देखने वाला है। ऐसा कर वह अपने ही वृद्धत्व की अवगणना करता है। जो अपने ही अनुजों के समक्ष गुरुजनों के वाक्यों की अवहेलना करता है, आश्चर्य है कि वह अपने ही अज्ञान से अपने वचनों को मूल्यहीन बनाता है।

संघे तिष्ठन्नपि वसति यश्चैककः सोस्ति तुष्टः,  
एकस्तिष्ठन्नपि परिवृतः कल्पनाभिः स रुष्टः ।  
व्यापिप्रेम्णा क्वचिदपि वसन्नेककः संघगोपि,  
प्रेम्णोऽभावे विजनवसतिश्चापि नैकत्वमेति ॥६॥

जो संघ में रहता हुआ भी अकेला रहता है, वह प्रसन्न रहता है। किन्तु जो अकेला रहता हुआ भी कल्पनाओं से परिवृत रहता है, वह सदा रुष्ट रहता है। व्यापक प्रेम से रहने वाला अकेला व्यक्ति, चाहे कहीं भी रहे, वह समूह में ही है और प्रेम के अभाव में एकान्त में रहनेवाला व्यक्ति भी अकेला नहीं है।

आत्मा तत्र प्रणिहितधिया स्याद् बुधेनार्पणीयो,  
यस्मिन् भावो भवति सुतरां नैव प्रत्यर्पणस्य ।  
भावाभावे भवति मनसोऽपि प्रसादो विषादो,  
वृक्षं कुर्वन् क्वचन हसितं नार्पणाहो वसन्तः ॥७॥

पवित्र बुद्धि वाले विद्वान् को अपनी आत्मा का समर्पण वहीं करना चाहिए जहां कभी प्रत्यर्पण का भाव उत्पन्न ही नहीं होता । प्रत्यर्पण की प्राप्ति में मन की प्रसन्नता और उसके अभाव में मन का विषाद होता है । वसन्त कभी अर्पण योग्य नहीं होता, क्योंकि वह क्वचित् ही वृक्ष को प्रफुल्लित कर पाता है ।

## १४ : जयपुरयात्रा

माघे मासे मुनिगणपते राजलाद्देसरेऽभूद्,  
भव्यो वासो वसति मुदितो मूर्तिमान् यत्र धर्मः ।  
मर्यादाया महसि महति प्राप्तनिर्देशविज्ञाः,  
सन्तः सत्यः परिहृतमनोभावभंगां व्यहार्षुः ॥१॥

विक्रम संवत् २००५ माघ महीने में आचार्यश्री तुलसी का भव्यवास राजलदेसर में था । उस समय ऐसा लग रहा था, मानो कि वहां धर्म मुदित होकर मूर्तिमान् हो रहा है । महान् मर्यादा महोत्सव में निर्देश प्राप्त कर विज्ञ साधु-साध्वी अपने-अपने मनोभावों को गुरुचरणों में समर्पित कर गुरु के आज्ञानुसार अपनी-अपनी दिशाओं में विहार कर गए ।

मन्त्री मग्नो गुरुमनुचरन् सर्वदा जीवनद्धि-  
देहश्चित्तं पवनमिव वा वारिवाहोऽनुकूलम् ।  
नूनं कीदृग् गुरुचरणयोर्दूरतोऽवस्थितिः स्या-  
द्वोलां मुञ्चन् गतिमिव शिशुः पूर्वमेवान्वभूताम् ॥२॥

जैसे—देह चित्त का और बादल अनुकूल पवन का अनुसरण करता है वैसे जीवन-संपदा से सम्पन्न मंत्री मुनि मगनलालजी सदा गुरु के साथ चलते थे । गुरु से दूर अवस्थिति कैसे होती है, उसका पहली बार ही अनुभव किया था । जिस प्रकार बच्चा पालने को छोड़कर पहली बार गति का अनुभव करता है, वैसे ही मंत्री मुनि ने गुरु-चरण से दूर की अवस्थिति का पहला अनुभव किया ।

दृष्टिं पश्यन् सविधवसतिः किं स्मयः पूजयेत्तां,  
चित्रं तस्या रचयति तथाऽभ्यर्चनं दूरवर्ती ।

इत्याशंसां मनसि निदधच्चम्पकोऽपि व्यहर्षीत्,  
किन्त्वादेशे नयनपथगे तत्कथं भावि सिद्धम् ॥३॥

गुरु के सान्निध्य में रहनेवाला गुरु की दृष्टि की आराधना (पूजा) करता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? किन्तु जो दूर रहकर उसकी आराधना करता है, वह आश्चर्य है। इस आशंसा को मन में धारण कर 'चंपकमुनि' (बडभ्राता) वहां से अन्यत्र विहार कर गए। किन्तु उनका यह मनोरथ (दूर रहकर गुरु की दृष्टि की आराधना करूंगा) कैसे सिद्ध होगा; जबकि गुरु का आदेश प्रतिपल उनकी आंखों के सामने है।

क्रूरे मार्गे गतिमति युगे यंत्रपादैरुदग्भि-  
र्नम्रा वृत्तिर्मृदुलचरणा पृष्ठगा तत्र जाता।  
सेवासक्ता यमिनि नियतं यायिनि प्रेममार्गे,  
वन्दारुत्वे विहरणगतेर्दर्शनं जातमस्याः ॥४॥

तारकोल की सड़क और बीच-बीच में निकले हुए तुकीले पत्थर के टुकड़े—  
ऐसे पथ पर आधुनिक वाहन अपने यांत्रिक चरणों द्वारा चल रहे हैं। किन्तु  
नम्रवृत्ति के चरण मृदुल होते हैं, इसलिए वह (वृत्ति) पिछड़ गई—उस मार्ग  
पर नहीं चल सकी। वह निश्चित रूप से प्रेम-मार्ग पर चलने वाले साधुओं की  
सेवा में लीन हो गई। साधु वर्ग के विहार के समय की जानेवाली वंदना के क्षणों  
में इसका प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा था।

शीते शान्तिर्मिलति सुतरां तत्र लोकोऽविवेकी,  
दास्यं मृत्तां प्रकृतिजडतामूहते सानुभावम्।  
किञ्चिद् ग्रीष्मं समजनि मनो रोदसी प्रापदौष्ण्यम्,  
कोपोऽसह्यो भवति महतां यन् मुधारोपजन्यः ॥५॥

शीतलता से सदा शान्ति मिलती है। किन्तु लोग अविवेकी हैं। वे शीतलता  
पर दास्यभाव, मिट्टी होने और प्रकृति से जड़ होने का आरोप लगाते हैं। जब  
शीतकाल का मन इस आरोप से तप्त हुआ तो आकाश और भूमि दोनों तप  
उठे। यह सच है कि महान् व्यक्ति का, व्यर्थ के आरोप से उत्पन्न, क्रोध असह्य  
होता है।

साङ्गोपाङ्गां नभसि विटपी भूरिशाखां वितन्वन्,  
भूम्यां मूलं द्रढयितुमलं किं न वा पादचारी।

आचार्योऽपि प्रथितमहिमा शिष्यवर्गं वितत्य,  
दूरं दूरं स्वयमुपसृतः पुर्वरे सारदारे ॥६॥

वृक्ष अपनी शाखाओं को आकाश में पूर्णरूप से फैलाकर अपने मूल को भूमि में मजबूत करने के लिए अपनी जड़ों के सहारे भूमि में घूमता है। उसी प्रकार महिमाशाली आचार्य तुलसी भी सारे भारत में अपने शिष्यों को फैलाकर स्वयं दूर-दूर तक विहरण करते हुए सरदारशहर पधारे।

पौरे लोके विकचहृदये स्वागतार्थं समेते,  
पादे भालं दधति सुमुनेर्धूसरे मार्गधूल्या।  
त्यागो भोगं जयति सततं सूक्तिरेषा पुराणा,  
सार्थाऽमुष्मिन्नपि कलियुगे केन नेति प्रतीतम् ॥७॥

आचार्यप्रवर के पदार्पण से सरदारशहरवासी लोगों का हृदय प्रफुल्लित हो गया। वे सारे स्वागत करने के लिए एकत्रित हुए। वे मार्ग की धूली से खरडे आचार्यश्री के पैरों पर अपने भाल रखने लगे। 'त्याग भोग को जीत लेता है'— यह उक्ति पुरानी है। किन्तु इस कलियुग में भी उसकी सत्यता का किसने अनुभव नहीं किया ?

भूतज्ञानं नयनविकलं यद् यदाविष्करोति,  
तत्तद् यूयं युगलनयनाः किं प्रयुङ्क्ष्वं मनुष्याः।  
अस्त्रं नाणोः किमपि भविता शान्तिरक्षाधिकारि,  
सत्यं शान्तिं मृगयथ तदाणुव्रतान्याश्रयध्वम् ॥८॥

मनुष्यो ! नेत्रहीन पदार्थ-विज्ञान जो-जो आविष्कार करता है, उस सबका तुम दो आंख वाले होते हुए भी क्यों प्रयोग कर रहे हो ? अणु-अस्त्र शांति और रक्षा करने वाला नहीं होगा। यदि तुम सत्य और शांति के वास्तविक इच्छुक हो तो अणुव्रतों को अपनाओ।

भव्यालोके विपुलमृदुले तापिते चारुणेन,  
पुण्ये मार्गे शम इव सतां मानसे सत्सहिष्णौ।  
कामं गच्छन् सगणमुनिपः प्राप्तवान् रत्नदुर्गः,  
लक्ष्ये दृष्टि क्षिपति पुरुषे दुर्लभा नार्थसिद्धिः ॥९॥

प्रकाशित, सूर्य द्वारा तप्त और अत्यन्त मृदु उस पुण्य मार्ग पर चलते हुए

भाचार्य तुलसी अपने गण के साथ उसी प्रकार रतनगढ़ पधारे, जिस प्रकार सहिष्णु और सज्जन व्यक्तियों के मन में शान्ति का पदार्पण होता है। जिस व्यक्ति की दृष्टि लक्ष्य पर होती है, उसके लिए लक्ष्य-प्राप्ति दुर्लभ नहीं होती।

निःसन्तानः प्रथितघनिकश्चिन्तया चान्तचेताः,  
धान्याभावे विकलकृषिको दग्धचेतःक्रियश्च ।  
नैवाद्राष्टां वियतिनिकरं केवलं सद्घनानां,  
स्याद् वा नो वा सघनजडतापीति पर्येक्षिषाताम् ॥१०॥

निःसन्तान, यशस्वी घनिक चिन्तातुर होकर आकाश को देखता है। धान्य के अभाव से व्याकुल किसान का हृदय जल उठता है और वह भी निष्क्रिय होकर आकाश को निहारता है। दोनों ने आकाश में केवल मेघ-समूहों को ही नहीं देखा किन्तु वे बरसते हैं या नहीं बरसते—एतद्विषयक उनकी जड़ता को भी देखा। कहीं मेघ अनावश्यक बरस जाते हैं और कहीं आवश्यक होने पर भी नहीं बरसते।

प्रायो ग्रीष्मप्रकृतिरुचितं लङ्घते सावलेप,  
उष्णस्तापं प्रचुरमतनोच्चैत्रमासे तथापि ।  
लोकैर्नूनं नवकिसलयैः पुष्पकालः प्रतीतो,  
लोप्तुं शक्या न खलु सहजा दुर्जनैः सज्जनाभा ॥११॥

गरम प्रकृति के लोग प्रायः अभिमान के लेप से औचित्य का उल्लंघन कर डालते हैं। ग्रीष्म चैत्रमास में भी भयंकर ताप देने लगा। फिर भी लोगों ने नए किसलयों के कारण उस समय को पुष्पकाल (वसन्त) ही माना। सच यह है कि दुर्जन व्यक्ति सज्जन पुरुषों की आभा को सहज नष्ट नहीं कर सकते।

रे रे ! वनिह शमयसि सता तेजसेयान् विरोधः,  
शैत्यं वारां हृतमित रुषा ही निदाघेन कोपात् ।  
तेनाप्यम्भः प्रकृतिरथ किं व्यत्ययं तत्र याता,  
दोषान्न स्यात् क्वचन विरतिर्यद् विना भावशुद्धयै ॥१२॥

जल ! तुम आग को बुझा डालते हो। उस श्रेष्ठ प्रकाश के साथ तुम्हारा इतना विरोध क्यों ? मैं समझ गया, ग्रीष्म ऋतु ने ऋद्ध होकर तुम्हारी शीतलता का हरण कर डाला, तुम्हें गरम कर दिया। पर उससे तुम्हें क्या ? क्या इससे तुम्हारी प्रकृति बदल गई ? नहीं बदली। अब भी तुम आग के लिए पानी ही हो। भावना की शुद्धि के बिना दोषों से विरति नहीं हो सकती।

चूरूपूर्या गमनमभवत् साधयत् साधुभावान्,  
स्थित्यां नास्ते गतिरिह गतावेव सा लब्धरूपा ।  
मन्ये भाग्यं न गतिविकला यत् स्थितिश्चान्यथा तु,  
प्रत्ना नूतना अपि च जरिणो नार्भकाः स्युः कदाचित् ॥१३॥

श्रेष्ठ भावों का सर्जन करता हुआ आचार्यश्री का आगमन चूरू नगर में हुआ । स्थिति में गति नहीं होती किन्तु गति में स्थिति होती है । यह सौभाग्य है कि गति से विकल स्थिति नहीं होती अन्यथा नए पुराने और बालक बूढ़े कभी नहीं होते ।

केचिद् ग्रामाश्चरणविषयाः पार्श्वगा अप्यजाताः,  
किं पार्श्वस्थो भवति विषयो नेत्रयोः पक्षमदेशः ।  
साक्षाद् दृष्टस्तदिह मुकुरे नूनमानन्ददायी,  
तत्राप्यासीद् विहरणमलं किन्न तद्रूपकल्प्यम् ॥१४॥

कई गांव अत्यन्त पास में थे, किन्तु आचार्य-प्रवर का वहां पदार्पण नहीं हुआ । क्या आंख के निकटवाला पक्षम का भाग कभी आंख का विषय बना है ? किन्तु जब वह कांच में साक्षात् दीख पड़ता है, तब अवश्य ही वह आनन्ददायी होता है । दर्पण में पक्षमदेश को देखने की भांति उन गांवों में भी विचरण क्यों नहीं हुआ—यह प्रश्न बना ही रहा ।

नाना ग्रामैर्विविधरुचिगैर्मानवैर्मानरम्यै-  
नाना मार्गैर्बहुविधमृदां स्पर्शनैर्नैकवातैः ।  
नाना नीरैर्नवनवगृहैर्नैकचिन्ताप्रवाहैः,  
सात्म्यं लब्ध्वा श्रमणपतिभिर्योगिवृत्त्या व्यहारि ॥१५॥

विभिन्न गांव, विविध रुचि और श्रेष्ठ मान वाले मनुष्य, विभिन्न मार्ग, बहु प्रकार की मिट्टी का स्पर्श, विविध प्रकार की हवाएं और पानी, नए-नए घर और भिन्न-भिन्न विचार—इन सबके साथ एकात्मकता स्थापित करते हुए आचार्य श्री योगी की वृत्ति से विहार करने लगे ।

जयपुरे जयघोष उदच्छलद्,  
विजयमागमिनं ध्वनितुं ध्रुवम् ।

सपदि तेन च शून्यमपूर्यत,  
भवति तद्विलये ह्युदयश्चिदाम् ॥१६॥

आचार्यश्री जयपुर पधारे । आगन्तुक अतिथि की विजय को शब्दायित करने के लिए जयघोष होने लगा । सहसा सारा आकाश उस जयघोष से भर गया । उसके विलीन होने पर चैतन्य का उदय होता है ।

ये प्रार्थनायां प्रचुराश्रुवाहाः,  
संप्रत्यहो ते प्रमुदश्रुवाहाः ।  
हर्षे विषादेऽपि समा प्रवृत्तिः,  
द्रष्टुर्महच्चित्रमथानने न ॥१७॥

आचार्यश्री के पदार्पण की प्रार्थना के समय लोगों के जो अश्रु-प्रवाह थे, वे आज हर्ष के प्रवाह में बदल गए । आचार्यप्रवर हर्ष और विषाद में समप्रवृत्ति वाले हैं किन्तु दर्शक व्यक्तियों के चेहरे पर वह वृत्ति नहीं थी, यह आश्चर्य है ।

आद्यो वासोऽजनि मुनिपतेर्ठीलियावासमध्ये,  
तस्मिन्नेको मुनिपसविधं साम्यवादी समेतः ।  
धर्मव्याख्या सुमतिमुलभा पूज्यपादैरदायि,  
सोऽवक् कोस्मिन् भवति विमतिलोककल्याणहेतौ ॥१८॥

जयपुर में आचार्यप्रवर का पहला निवास 'ठीलिया' भवन में हुआ । उस दिन आचार्यश्री के पास एक साम्यवादी व्यक्ति आया । उस समय पूज्यश्री ने धर्म की बुद्धिगम्य व्याख्या प्रस्तुत की । यह सुनकर उसने कहा—ऐसे कल्याणकारी धर्म से कौन व्यक्ति विमुख हो सकता है ?

सत्तात्मकेन द्रविणात्मकेन,  
धर्मेण दध्मो नितरां विरोधम् ।  
हिंसाप्रतीकारकृतेऽपि हिंसा,  
ग्राह्या न वा श्वापदवृत्तयः स्मः ॥१९॥  
स्याद् हिंसया हिंसकजीवनाश-  
दमौ न हिंसाप्रतिकार एवम् ।  
अहिंसया जीवनमेत्यहिंसा,  
व्याहारि सारं मुनिनायकेन ॥२०॥



आचार्यश्री ने धर्म का सार प्रस्तुत करते हुए कहा—‘सत्तात्मक और अर्थात्मक धर्म के साथ हमारा विरोध है। हमारा सिद्धांत है कि हिंसा के प्रतिकार के लिए हिंसा ग्राह्य नहीं होनी चाहिए। यदि वह ग्राह्य हो तो इसमें और हिंस्र पशु में अन्तर ही क्या रहेगा ? हिंसा से हिंसक जीव का नाश और दमन हो सकता है, किन्तु उसका प्रतिकार नहीं होता। अहिंसा से अहिंसा को प्राण मिलता है।’

उच्चैरुच्चैः सघनजलदा आवृतानन्तलीलाः,  
 प्रादुर्भूताः पदि पदि जनैः सत्कृता भूरिनीराः ।  
 भाराक्रान्ता विहितनतयो वातसंकेतियायां,  
 विद्युत्दीप्रा दिशि गतिमिता गर्जिनृत्यन्मयूराः ॥२१॥

आकाश में बहुत ऊँचे, पानी से भरे मेघ उमड़ आए। उन्होंने आकाश को डंक दिया। स्थान-स्थान पर लोगों ने उनका सत्कार किया। पानी से भारी होने के कारण वे नीचे झुके और वायु के द्वारा संकेतित दिशा में गति करने लगे। उनके साथ बिजली का दीप था और उनके गर्जन को सुनकर मयूर नाच रहे थे।

वर्षारम्भः शमरसमयः पूज्यवाण्या प्रसूतो,  
 हर्षोल्लोलानकृत मनुजान् सर्वसंतापहारी ।  
 मेघाभावे कृतदृढपदा अन्तरुच्छ्वासवाष्पा,  
 प्रशनीभूय न्यधिषततमां बाह्यरूपं समन्तात् ॥२२॥

वर्ष का आरंभ आचार्य-प्रवर की शांत रसमय वाणी से प्रारंभ हुआ। यह वाणी सभी संतापों का हरण करने वाली थी। उसने मनुष्यों को हर्षान्वित कर दिया। उनके आन्तरिक उच्छ्वास का वाष्प मेघ के अभाव में काफी दृढ़ हो चुका था। उसको उन्होंने प्रशनों का बाह्यरूप देकर प्रस्तुत किया।

महाविद्यागारे प्रवचनमभूत् सार्वजनिकं,  
 घनारब्धा स्पर्धा सघनजलधाराभिरुदिता ।  
 नृणां गत्यावेगस्तमपि समबाधिष्ट सुतरां,  
 यतःस्पर्धा स्पर्धा जनयति निजोद्भूतिनियमात् ॥२३॥

## ६० अतुला तुला

एक दिन संस्कृत महाविद्यालय में सार्वजनिक प्रवचन रखा गया था। इधर बादलों ने सघन जलधाराओं से स्पर्धा प्रारम्भ की। किन्तु आचार्यश्री का प्रवचन सुनने के इच्छुक मनुष्यों की गति का वेग उन धाराओं को भी बाधित करने लगा। स्पर्धा स्पर्धा को जन्म देती है, यह उसी के उद्भव का आन्तरिक नियम है।

(वि० २००६ पीष)

## १५ : रणथंभोरयात्रा

वर्षाकालं युगलमवसद् यत्र भिक्षुर्मुनीश-  
स्तन्मार्गोऽयं नयनविषयो नाप्यभूदुत्तरार्यैः ।  
एतद् युक्तं किमिति सुपथां प्रार्थनां धारयित्वा,  
संघेनामा रणदभंवरं पूज्यपादा अगच्छन् ॥१॥

तेरापंथ के प्रथम आचार्य भिक्षु ने जहां दो चातुर्मास बिताए थे, वहाँ उत्तर-  
वर्ती आचार्यों ने उसका रास्ता ही नहीं देखा। वहाँ पहुंचाने वाले विभिन्न मार्गों  
ने कहा—‘क्या यह उचित है?’ उनकी प्रार्थना हृदय में धारण कर आचार्य-  
प्रवर श्री तुलसी अपने संघ के साथ ‘रणदभंवर’ पधारें।

योगो जातो यामयुग्मं नगेन,  
प्रत्येकं स्यान् मूल्यवान् यत्क्षणोऽपि ।  
नो बुद्धयन्ते तद्गतामर्घतां ये,  
ते तेनापि त्यज्यमानास्तदैव ॥२॥

आचार्यश्री रणदभंवर पर दो प्रहर तक ठहरे। क्योंकि प्रत्येक क्षण का अपना  
मूल्य होता है। जो लोग समय के मूल्य को नहीं समझते, वे उसके द्वारा उसी  
समय ठुकरा दिए जाते हैं।

एका गीतिर्व्यरचि मुनिपैर्मन्दिरे पर्शुपाणेः,  
स्तोकैः शब्दैः सुकृतिसुलभं वर्णितं दुर्गवृत्तम् ।  
दूरस्थास्ते वयमिति कुतो दृश्यमानाः सुदृष्ट्या,  
वात्सल्यं नो रचयति भिदां दूरतः पार्श्वतो वा ॥३॥

आचार्यश्री ने वहाँ शिव मन्दिर में एक गीतिका रची। उसमें थोड़े शब्दों में  
दुर्ग का वृत्तान्त सुन्दर ढंग से वर्णित है। उस गीतिका के गान के समय हमारी

स्मृति हुई। क्योंकि उस समय हम कुछ दूर (भगवतगढ़ में) थे। किन्तु उनकी कृपापूर्ण दृष्टि से हम देखे जा रहे थे। यह सच है कि कोई दूर हो या पास, वात्सल्य कभी भेद नहीं करता।

दुर्गे नृणां नो सुकरः प्रवेशः,  
चित्ते गुरोः शश्वदनाश्रवाणाम्।  
मार्गाः समन्तादुपलैरुपेताः,  
क्रूरैर्विकल्पैरिव दुष्टसत्त्वाः ॥४॥

जिस प्रकार गुरु के चित्त में अविनीत शिष्यों का प्रवेश सुकर नहीं होता, उसी प्रकार उस दुर्ग में मनुष्यों का प्रवेश सुकर नहीं था। जिस प्रकार दुष्ट प्राणियों के मन क्रूर विकल्पों से भरे रहते हैं, उसी प्रकार वहां के सभी मार्ग उपलब्धों से भरे पड़े थे।

भीत्येव यत्प्रोन्नतपर्वताना-  
मन्तर्गतं राजति सर्वतोऽपि।  
संरक्षकव्याजमुपेत्य मन्थे,  
सेनाधिपोन्तश्चमुसंस्थितोऽस्ति ॥५॥

वह दुर्ग डर के कारण उस उन्नत पर्वतमाला के बीच में बैठा हुआ था, मानो संरक्षक होने के बहाने सेनापति अपनी सेना से घिरा हुआ बैठा हो।

कूर्दद्भिः कपिभिश्चिरं चलदला शाखानुशाखं प्रियं,  
कल्लोलैः सरसीव बुद्धिरथवा संकल्पजालैरिव।  
मार्गञ्चोभयतो घना खगकुलैश्छन्ना तरूणां तति-  
रागच्छत्पथिकैरिव प्रणयतो वार्त्तापरेवानता ॥६॥

जैसे ऊर्मिमाला से तालाब और संकल्पजाल से बुद्धि प्रकंपित होती है, वैसे ही एक शाखा से दूसरी शाखा पर छलांग भरते हुए बंदरों के द्वारा जिसके पत्ते हिल रहे थे तथा जो पक्षी-समूह से आच्छन्न थी, वह वृक्षों की सघन श्रेणी आने वाले पथिकों के साथ प्रेमपूर्ण वार्ता करने के लिए पथ के दोनों ओर झुक रही थी।

संस्पृष्टुं सवितुः करा महिमलं संचेष्टमाना अपि,  
निश्छिद्रैश्छदनैः प्रसह्य विमुखा साध्वीं यथा कामिनः।

छिद्रान्वेषणतत्पराः क्वचिदहो लब्धावकाशाः पुन-  
श्छायाभंगमकार्षुरात्मपतनात्तस्या हि धिक्कामुकम् ॥७॥

सूर्य की किरणें वहां की भूमि का स्पर्श करने के लिए चेष्टा कर रही थीं किन्तु सघन वृक्षों के पत्तों की निश्छिद्रता के कारण वे सफल नहीं हो रही थीं, जिस प्रकार कामी पुरुष साध्वी स्त्री का स्पर्श करने में सफल नहीं होते। कहीं-कहीं छिद्रान्वेषी किरणें भूमि-स्पर्श का अवकाश पाकर उसकी छाया (पक्ष में शोभा) का भंग कर रही थीं। किन्तु वे ऐसा अपने आत्म-पतन के द्वारा ही कर पा रही थीं। कामुक व्यक्ति को धिक्कार है।

शालः खण्डहरः पुराणविभुतासाक्ष्यं प्रसर्पन्निव,  
लञ्चाया अवधेः प्रतीक्षक इव स्वात्मानमारक्षति ।  
सिंहद्वारगतैश्च राजपुरुषैः संरक्षिते वर्त्मनि,  
शक्तो नैव पलायितुं तत इतो भम्पामपि प्राश्रयत् ॥८॥

वहां का परकोटा खंडहर था। वह अपनी प्राचीन विभुता को प्रकट कर रहा था। वह अपने आप की रक्षा यह मान कर रहा था कि उसके द्वारा ली हुई लंचा की अवधि मानो पूरी नहीं हुई हो। प्रवेश-द्वार पर खड़े सिपाहियों द्वारा संरक्षित मार्ग से वह दौड़ नहीं सकता इसलिए इधर-उधर उसने झंपापात भी किया है।

तन्मन्ये विजनस्थितैः शिखरिणामभ्रंलिहैः सानुभिः,  
कामं क्रूरमुखैरसंयतकचैर्वक्षत्रजव्याजतः ।  
लब्धुं नागरसभ्यतां बहुगुणामास्थापितो मूर्धनि,  
प्राकारः कथमन्यथाऽत्र विषमे तद्भित्तयः संयुताः ॥९॥

मैं मानता हूँ कि उस विजन प्रदेश में स्थित पर्वतों के अत्यन्त ऊंचे और तीखी नोक वाले शिखर वृक्षों के मिष से इधर-उधर बिखरे केशों वाले होकर अनेक गुणों वाली नागर-सभ्यता को पाने के लिए अपने मस्तक पर प्राकार को धारण कर रहे थे; अन्यथा उस विषम पर्वत पर उस प्रकार की भित्तियां संयुत कैसे होतीं ?

आरोहतां तत्र पदो विचिन्वतां,  
श्वासः पुरोधावितुमाशु लग्नः ।

ते के यदुच्चैर्ब्रजतां जनानां,  
न नाम दौत्यं रचयन्ति भक्त्या ॥१०॥

आरोहण के समय जब पैर आगे बढ़े तब श्वास इतना तेज हो गया कि वह आगे दौड़ने लगा। संसार में ऐसे कौन हैं जो ऊपर चढ़ने वालों की भक्ति से दौत्य न करते हों ?

कथं कुतः केन विचित्रमेतत्,  
पदं सुरक्षोचितमन्वशोधि ।  
अवक्तुकामा अपि तत्र लोका,  
वाचालतां यान्ति तदीक्षणेन ॥११॥

मूक रहने वाले लोग भी वहां उस दुर्ग को देखकर, सुरक्षा का यह उचित स्थान कैसे, कहां और किसने ढूँढ निकाला—इस प्रकार वाचाल हो जाते हैं।

दुर्गं दिदृक्षा त्वरयत्यजस्रं,  
रुणद्धि पादान् सुरभिद्रुमालिः ।  
एतद् विरोधोपशमोऽन्वगच्छन्,  
निजानशक्तान् कवयोपि कामम् ॥१२॥

दुर्ग को देखने की इच्छा गति में त्वरा ला रही थी। किन्तु सुरभित वृक्षों की श्रेणी पैरों को रोक रही थी। इस परस्पर विरोध का उपशमन करने के लिए कवियों ने भी अपने आपको असमर्थ पाया।

धान्याऽभावे वसति न जनस्तत्कुतः क्षुत्समाधि-  
रालोच्यैवं मनसि सुतरां यत्र लम्बोदरोऽपि ।  
संकोच्य स्वं वपुषि धरते केवलं वारणास्यं,  
राहू राहोः शिर इति नयो द्वैतमापच्च तेन ॥१३॥

धान्य का अभाव होने के कारण वहां कोई मनुष्य नहीं रहता। ऐसी स्थिति में भूख समाहित कैसे हो—मन में ऐसा सोचकर गणेशजी भी अपने आपका संकोच कर, शरीर पर केवल हाथी का मुँह (सूंड) मात्र धारण करने लगे।<sup>१</sup>

तर्कशास्त्रीय नय के अनुसार राहु का सिर नहीं कहा जाता। राहु का

१. वहां एक मन्दिर में गणेशजी की मूर्ति है। उसके केवल सूंड है, उदर नहीं है।

केवल सिर ही होता है, वह राहु शब्द से गृहीत हो जाता है। किन्तु उस गणेश की मूर्ति का केवल सिर देखने के बाद यह लगा कि वह तर्कशास्त्रीय नय दोहराया है—एक राहु के लिए और एक गणेश के लिए।

वप्रान्ते शिखरी तनुं विभजते द्वेधा विशालोदरं,  
मन्ये सुस्थिरचेतसोश्च सुहृदोर्देवाद् द्विधाभून्मनः।  
लोकैस्तत्परिखेति नाम कथितं रक्षैव सा साकृति-  
नीरं नापरथा नु को हि मतिमांल्लंकासमुद्रं स्मरेत् ॥१४॥

उस दुर्ग के अन्त में, पर्वत ने अपने विशाल शिखरीर को दो भागों में विभक्त कर डाला था। वह ऐसा लग रहा था मानो जिसके अन्तर्गत सुस्थिर चित्तवाले दो मित्रों का मन टूटकर दो टूक हो गया हो। दोनों पर्वतों के बीच के उस स्थान को 'खाई' कहा है। वह स्वयं मूर्तिमय रक्षा के समान थी। वह अत्यन्त विशाल थी। उसमें पानी नहीं था। अन्यथा उसे देखकर कौन बुद्धिमान् मनुष्य लंका के समुद्र का स्मरण नहीं करता ?

द्रुमा अहंपूर्विकयोन्नतास्या-  
स्तत्पूरणायामनि चेष्टमानाः।  
विक्रेतुरेषा क्षतिपूर्तिचेष्टा,  
क्व सार्थका स्याद् व्यवहारशून्या ॥१५॥

आकाश में फैलते हुए वृक्ष उस खाई को पाटने के लिए अपने आप में स्पर्धा कर रहे थे। किन्तु उनका वह प्रयास व्यवहारशून्य होने के कारण सार्थक नहीं हो सका। जैसे कोई-वणिक् व्यवहार (व्यापार) छोड़कर अपना घाटा पूरा करना चाहे तो उसकी वह व्यवहारशून्य प्रवृत्ति फल नहीं होती, वैसे ही वृक्ष भी असफल हो रहे थे।

एकं तद्विवसं यदत्र रिपवो हम्मीररक्षास्थले,  
द्वारां दर्शनलालसा अतिथयः प्रेताधिपस्याऽभवन्।  
एकं साम्प्रतिकं यदत्र गहनं हिस्त्राकुलं भ्राजते,  
दृष्टा केन न वक्रता हि समये रङ्गस्थले नृत्यता ॥१६॥

यह दुर्ग हमारी रक्षा का स्थल था। एक दिन वह था जब दुर्ग के द्वारों

१. वहां दो पर्वतों के बीच में एक प्राकृतिक खाई थी।

को आकांक्षा की दृष्टि से देखनेवाले व्यक्ति यमराज के मेहमान बन जाते। एक दिन आज का है कि यह सारा स्थल हिल पशुओं से व्याप्त है। यह ठीक ही है कि रंगभूमि में नाचनेवाला कौन प्राणी वक्रता (परिवर्तन) का अनुभव नहीं करता ?

स्थाने स्थाने शीर्णकायाः शतघ्न्यः,  
स्फीतं मृत्योराननं संस्पृशन्त्यः।  
नातिक्रान्तो मारकस्यापि मृत्यु-  
रित्याख्यातु व्याददानाः स्वमास्यम् ॥१७॥

स्थान-स्थान पर मौत की तरह मुंह फाड़े तोपें पड़ी थीं। उनका फटा हुआ मुंह यह कह रहा था कि मारने वाले की भी मृत्यु होती है।

गुप्ता गंगा पुष्कराढ्यास्तटाकाः,  
स्मारं स्मारं प्राक्तनं वैभवं स्वम्।  
कुं सिचन्तो वाष्पबिन्दुप्रवाहै-  
र्नो विश्रान्ता विद्युदुत्प्लावियन्त्रैः ॥१८॥

वहां एक स्थान पर गुप्त गंगा थी। वहां के तालाब कमलों से भरे-पूरे थे। सरकार ने उस (गुप्त गंगा) को खाली करने के लिए विद्युत् के यन्त्र लगाए, फिर भी वह खाली नहीं हुई। कवि की कल्पना में उसका हेतु यह है कि अपने पुराने वैभव को याद करती हुई वह गंगा आंसुओं के प्रवाह से भूमि को आर्द्र कर रही है, इसलिए उसका जल सूख नहीं रहा है।

क्रूरैर्मेघैर्भूधराणां शरीरे,  
वारां पातैरुजितानि क्षतानि।  
वर्षान्तेपि न्यविक्षपन्त्यम्बु तज्जं,  
के के मुक्ता हा! प्रतीकारबुद्ध्या ॥१९॥

क्रूर मेघों ने पानी की अपनी धाराओं से पर्वतों के शरीर पर अनेक घाव कर डाले थे। वर्षा ऋतु के अन्त हो जाने पर भी पर्वत निर्झर के मिष से उस पानी को नीचे फेंक रहे थे। इस संसार में ऐसे कौन प्राणी हैं जो प्रतिकार की भावना से मुक्त हों ?



उच्चैरुच्चैः पर्वतैः पात्यमानं,  
 मार्गे मार्गे प्रस्तरैरुध्यमानम् ।  
 स्थाने स्थाने सेतुभिर्बध्यमानं,  
 पादे पादे पांशुना श्लिष्यमाणम् ॥२०॥

पीनैर्मिनैः संततं क्षुभ्यमाणं,  
 पान्थैराशूच्छिष्यमाणं तथापि ।  
 स्रोतस्तोयं काममस्ति प्रसन्नं,  
 न प्राणान्ते यद् विलक्षा महान्तः ॥२१॥

स्रोत का पानी ऊँचे-ऊँचे पर्वतों से नीचे गिराया जाता है, मार्ग-मार्ग पर प्रस्तरों से रोका जाता है, स्थान-स्थान पर बांधों द्वारा एकत्रित किया जाता है, पग-पग पर रेत से आश्लिष्ट होता है, पुष्ट मत्स्यों द्वारा सदा क्षुब्ध किया जाता है और पथिकों द्वारा उच्छिष्ट किया जाता है, फिर भी वह स्वच्छ और निर्मल रहता है। यह सच है कि महान् पुरुष प्राणान्त में भी उदास नहीं होते।

२२. उच्चैरुच्चैरुपलशकलान्याह्वयन्तेऽध्वनीनान्,  
 दृश्या दृश्या स्फुरितनयनैः खण्डिता राज्यलक्ष्मीः  
 को वाऽखण्डः स्फुरति ममतामूर्च्छितो मानवोऽत्र,  
 नम्रः कम्प्रो भवति भुवने यो नमेद् भज्यते न ॥२२॥

वहाँ के उपलखंड जोर-जोर से पथिकों को आह्वान कर रहे हैं कि तुम खण्डित राज्यलक्ष्मी को आंख फाड़-फाड़कर देखो। इस संसार में ममता से मूर्च्छित कौन मानव अखण्ड रह सका है? जो नम्र होता है वही कमनीय होता है। जो नत होता है वह टूटता नहीं।

(वि० २००६ पौष)

## १६ : पुण्यपापम्

सर्वे सम्मिलिता जाताः,  
पुण्ये विद्यालयाङ्गणे ।  
विद्यार्थिनः शिक्षकाश्च  
तत्रैकः पृष्टवानिदम् ॥१॥

विद्यालय के पवित्र प्रांगण में शिक्षक और विद्यार्थी एकत्रित हुए। उस समय एक विद्यार्थी ने पूछा—

कथमध्यापकश्चेष्ट !  
भवामः सफला वयम् ।  
जिज्ञासामो वयं सर्वे,  
करोतु पथदर्शनम् ॥२॥

अध्यापक-प्रवर ! हम जीवन में सफल कैसे हो सकते हैं ? यह हम सबकी जिज्ञासा है। आप हमारा मार्गदर्शन कीजिए।

अध्यापको मृदु प्राह,  
यूयं शृणुत सादरम् ।  
भवेत सफला यूयं,  
तानुपायान् वदाम्यहम् ॥

अध्यापक ने कोमल स्वर में कहा—विद्यार्थियो ! तुम आदरपूर्वक सुनो। मैं तुम्हें उन उपायों का शिक्षण दूंगा, जिन्हें सीखकर तुम सफल हो सकते हो।

उपायं प्रथमं तत्र,  
स्वावलम्बं वदाम्यहम् ।

स्वावलम्बी जनो नित्यं,  
जीवने सफलो भवेत् ॥४॥

अध्यापक ने कहा—जीवन में सफल होने का पहला उपाय स्वावलम्बन है।  
स्वावलम्बी मनुष्य सदा सफल होता है।

जिज्ञासा शिक्षकश्चेष्ट !  
स्वावलम्बनमस्ति किम् ?  
स्वावलम्बी कथं भूयो,  
जीवने सफलो भवेत् ॥५॥

विद्यार्थी ने पूछा—शिक्षक-प्रवर ! मेरी जिज्ञासा है कि स्वावलम्बन किसे  
कहा जाता है और स्वावलम्बी कैसे सफल होता है ?

स्वहस्त स्वस्य पाद च,  
विश्वासो विद्यते दृढः ।  
स्वावलम्बनमेतत् स्यात्,  
आत्मनिर्भरताप्यसौ ॥६॥

अध्यापक ने कहा—अपने हाथों और अपने पैरों में जो दृढ विश्वास  
है—अपने पुरुषार्थ पर जो भरोसा है, उसका नाम स्वावलम्बन है। इसे आत्म-  
निर्भरता भी कहा जाता है।

परावलम्बनग्रस्तो,  
निजं विस्मरति ध्रुवम् ।  
विफलो जायते तेन  
जीवनेस्मिन् पदे पदे ॥७॥

जो मनुष्य परावलम्बन की बीमारी से ग्रस्त होता है, वह अपने आपको भूल  
जाता है, इसलिए वह जीवन में पग-पग पर विफल होता है।

स्वावलम्बनसंलीनः,  
सततं स्मरति स्वकम् ।  
सफलो जायते तेन,  
जीवनेस्मिन् पदे पदे ॥८॥

जो मनुष्य स्वावलम्बन में मस्त होता है, वह अपने आपको सदा स्मृति में रखता है, इसलिए वह जीवन में पग-पग पर सफल होता है ।

वार्तां प्रकथयाम्येकां,  
टालस्टायस्य धीमतः ।  
स्वावलम्बनसाफल्यं  
स्फुटं ज्ञातं भवेद् यतः ॥६॥

मैं तुम्हें महाप्राज्ञ टालस्टायकी एक घटना सुनाता हूँ । उसे सनकर स्वालम्बन की सफलता स्पष्टतया ज्ञात हो जाएगी ।

स्वावलम्बाः कथं स्याम ?  
वयं स्मो धनिनां सुताः ।  
कार्यं कुर्याम हस्तेन,  
भवामो लघवस्तदा ॥१०॥

कुछ विद्यार्थी खड़े हुए और बोले—अध्यापक-प्रवर ! हम धनिकों के पुत्र हैं, हम स्वावलम्बी कैसे बनें ? यदि हम अपने हाथ से काम करें तो छोटे हो जाएं—हमारे बड़प्पन की मर्यादा टूट जाए ।

धनस्य पुरुषार्थेन,  
विरोधो नास्ति कश्चन ।  
वर्धते पुरुषार्थेन,  
धनमित्याह शिक्षकः ॥११॥

शिक्षक ने कहा—पुरुषार्थ के साथ धन का कोई विरोध नहीं है । वह पुरुषार्थ से ही बढ़ता है ।

पुण्यवन्तो जना अत्र,  
सुखभोगं प्रकुर्वताम् ।  
पुण्यहीना जना अत्र,  
कार्यं कुर्वन्तु सन्ततम् ॥१२॥  
विधेर्विधानमेतत्तु,  
न निवार्य कथञ्चन ।

अनेन नियमेनैव,  
शासितं विद्यते जगत् ॥१३॥

विद्यार्थी बोले—अध्यापक-प्रवर ! इस दुनिया में जो लोग भाग्यशाली हैं, वे सुखभोग करें और जो पुण्यहीन हैं, वे सदा काम करें। यह विधि का विधान है, इसे कोई टाल नहीं सकता। इसी विधि-विधान से सारा जगत् शासित हो रहा है।

अधुना श्रमिकैः राज्यं,  
क्रियते जगतीतले ।  
पुण्यापुण्यस्य चर्चषा,  
पुराणाभूद् गतादरा ॥१४॥

अध्यापक ने कहा—आज दुनिया के अंचलों में श्रमिक लोग राज्य कर रहे हैं। अब इस प्रकार के पुण्य और पाप की चर्चा बहुत पुरानी पड़ गई है। उसके प्रति अब वह आदर-भावना नहीं रही है, जो पहले थी।

नास्ति किं वस्तुतः पुण्यं,  
पापञ्चापि किमस्ति नो ।  
यदि स्तस्ते तदा किं न,  
फलं भावि तयोरिह ? ॥१५॥

विद्यार्थी बोले—क्या वास्तव में पुण्य और पाप कुछ भी नहीं हैं ? और यदि हैं तो उनका फल कैसे नहीं होगा ?

नाहं वच्मि न वा पुण्यं,  
न पापं विद्यते भुवि ।  
पुण्यपापे मतिर्यास्ति,  
समीचीना न चास्ति सा ॥१६॥

अध्यापक ने कहा—मैं यह नहीं कहता कि पुण्य और पाप नहीं हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि उनके बारे में जो धारणा है, वह सही नहीं है।

(वि० २०२१ दिल्ली)

## १७ : आत्मतुला

कषाया दैहिका दोषाः,  
जायन्ते बहवो नृणाम् ।  
रक्तचापश्च हृद्रोगः,  
उदरव्रणकादयः ॥१॥

प्राणियों के रक्तचाप, हृदयरोग, उदरव्रण आदि अनेक शारीरिक रोग कषायों के कारण उत्पन्न होते हैं ।

तोलयत स्वतुलया,  
मिमोद्धवं निजमानतः ।  
मा भवथ क्रीडनकं,  
परहस्तप्रताडितम् ॥२॥

अपने आपको अपनी तुला से तोलो और अपने माप से मापो । मनुष्यो ! तुम दूसरों के हाथ के खिलौने मत बनो ।

शठे शाठ्यं समाचर्य,  
स्वयं दुःखं समर्जितम् ।  
न दुःखी जायते शत्रुः,  
दुःखं प्राप्नोति स स्वयम् ॥३॥

शठता के प्रति शठता का आचरण कर व्यक्ति स्वयं दुःख का अर्जन करता है । उसका प्रतिपक्षी दुःखी नहीं होता, किन्तु वह स्वयं दुःख पाता है ।

आत्मभ्रान्तिर्न मे भूयात्,  
सुखं स्यान्नसुखभ्रमः ।

कण्डूयनं कुतः सौख्यं,  
माधुर्यं निम्बके कुतः ॥४॥

मुझे आत्मभ्रान्ति न हो । सुख हो, सुख का भ्रम न हो । खाज में सुख कहां ?  
नीम में मधुरता कहां ?

पात्रशिष्यः पाठनीयोऽ-  
पात्रे विद्या भयंकरी ।  
पात्रापात्रविवेकोऽयं,  
साम्प्रतं नैव विद्यते ॥५॥

जो शिक्षा के योग्य है, वह अध्ययन के लिए पात्र है । उसकी शिक्षा फलवती होती है । अपात्र को दी गई शिक्षा भयंकर होती है । किन्तु आज के विश्व में पात्र और अपात्र का विवेक मान्य नहीं है ।

## १८ : कथाश्लोकाः

पूर्वमान्यतया ग्रस्तो, न सत्यं लभते जनः  
मुखे लवणमापन्ना, पिपीलिकेव शर्कराम् ॥१॥

एक चींटी अपने मुंह में लवण का कण लेकर शक्कर के ढेर पर रहनेवाली चींटी के पास गई। उसने उसका स्वागत किया। वह बोली — 'मेरा मुंह नितान्त खारा रहता है।' उसने कहा— 'लो, यह चीनी खा लो।' उसने चीनी का कण मुंह में लिया, फिर भी उसका मुंह खारा ही रहा, क्योंकि उसके मुंह में पहले से ही नमक का कण मौजूद था। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी पूर्व-मान्यता से ग्रस्त है, वह कभी सत्य को नहीं पा सकता। जब वह अपनी पूर्व-मान्यता को छोड़ देता है, तब ही वह सत्य तक पहुंच सकता है।

न्यूनते द्वे गृहस्य स्तः, एकस्मिन् दिवसे ध्रुवम् ।  
एतद् विनक्ष्यति स्वामिन् !, कर्त्ता चापि विनक्ष्यति ॥२॥

एक धनी व्यक्ति ने बहुमंजिला मकान बनवाया। सारे नगर में प्रशंसा होने लगी। वह प्रत्येक व्यक्ति से यह पूछता कि मेरे इस मकान में क्या कमी है। सभी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर चले जाते। एक दिन एक संन्यासी वहां आया। सेठ ने उसे अपना नव-निर्मित मकान दिखाकर पूछा— 'महात्मन् ! इस मकान में कोई कमी तो नहीं है ?' संन्यासी ने कहा— 'सेठ ! मुझे इसमें दो कमियां दीख रही हैं।' सेठ का मन उदास हो गया। उसने अन्यमनस्कता से पूछा— 'वे दो कमियां कौन-सी हैं ? मैं उन्हें भी पूरा करूंगा। मेरे पास न धन की कमी है, न कारीगरों की कमी है। आप बताएं।' संन्यासी ने कहा— 'पहली कमी तो यह है कि यह नवनिर्मित भवन एक दिन अवश्य ही नष्ट हो जाएगा और दूसरी कमी यह है कि इसको बनाने वाला भी अमर नहीं रहेगा, एक दिन मर जाएगा।' सेठ ने यह सुना और वह आकाश की ओर देखता रहा गया।



महात्मैकेन स पृष्टः, जागसि ते भयं कुतः ?

तेनोक्तमान्तरः शत्रुः, भयं जनयति सदा ॥३॥

आधी रात बीत चुकी थी। आश्रम का समूचा वातावरण नीरव और शान्त था। अपनी कुटिया में एक महात्मा जाग रहे थे। एक व्यक्ति महात्मा के पास गया। चरण छूकर उसने पूछा—‘भगवन् ! आप जागते क्यों हैं ? आपको किस चीज का भय है ? न आपके पास धन है और न कोई वस्तु। फिर भय कैसा ?’ महात्मा ने कहा—‘वत्स ! बाहरी शत्रुओं का मुझे कोई भय नहीं है। मेरे आन्तरिक शत्रु—क्रोध, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि-आदि मेरे में सदा भय उत्पन्न करते रहते हैं। इसलिए मुझे जागना पड़ता है।’ प्रश्नकर्ता का मन समाहित हो गया।

एक एव भवेदात्मा, सर्वेष्वपि हि प्राणिषु ।

खादन्ती गौर्न वा रुद्धा, पुत्रः पित्रा निवारितः ॥४॥

पिता अपने पुत्र को साथ लेकर प्रवचन सुनने गया। प्रवचन में अद्वैत का प्रकरण चल रहा था। प्रवचनकार ने कहा—‘सभी प्राणियों में एक ही आत्मा है। वे सब ब्रह्म-स्वरूप हैं।’ प्रवचन सम्पन्न हुआ। पिता घर चला गया और पुत्र दुकान पर आ बैठा। किराने की दुकान थी। बाहर धान बिखरा पड़ा था। एक गाय आयी। वह धान खाने लगी। लड़का देखता रहा। इतने में ही पिता भी घर से आ गया। उसने सारी स्थिति देखी। गाय को धान खाते देख वह उबल पड़ा। उसने पुत्र को उपालंभ देते हुए कहा—‘अरे ! क्या तू गाय को नहीं हटा सकता ? इस प्रकार से तो सारा धन्धा ही चौपट हो जाएगा।’ लड़के ने कहा—‘पिताजी ! गाय की आत्मा और हमारी आत्मा में अंतर ही क्या है ? दोनों एक हैं। सब ब्रह्मरूप हैं।’ पिता ने सुना और वह अवाक् रह गया। उसने कहा—‘पुत्र ! प्रवचन की बात को व्यवहार में लाना अत्यन्त कठिन है।’

पितः ! घटा विपच्यन्ते, वृष्टिर्न स्यादितिष्यते ।

पितः ! उप्तानि बीजानि, वृष्टिर्भवेदितिष्यते ॥५॥

एक कुंभकार था। उसके दो पुत्रियां थीं। दोनों का विवाह हो चुका था। एक बार वह उनसे मिलने गया। पहली पुत्री के घर पहुंचा। पुत्री ने पिता को प्रणाम किया। पिता ने कुशल-क्षेम पूछा। पुत्री ने कहा—‘और तो सब ठीक है। घड़ों का कजावा तैयार है। यदि कुछ दिन वर्षा न आए तो अच्छा रहे।’

पिता दूसरी पुत्री के घर पहुंचा। पुत्री को कुशल-क्षेम पूछने पर उसने कहा—‘पिताजी ! अभी-अभी हमने खेतों में बीज बोए हैं। अभी वर्षा हो तो

अच्छा रहे। यदि वर्षा न हुई तो सारे बीज नष्ट हो जाएंगे।'

पिता ने सुना और सोचा कि दोनों पुत्रियों के हित भिन्न-भिन्न हैं।

कष्टकाले विचारो यः, स सुखे परिवर्तिते।

यमं प्रयुक्तवान् वृद्धो, भारमुत्थापितुं स्मृतः ॥६॥

विपत्तिकाल में जो विचार होते हैं, वे विपत्ति के दूर होने पर परिवर्तित हो जाते हैं। एक वृद्ध सिर पर लकड़ी का भार लिये जा रहा था। रास्ता लम्बा था। वह थक गया। अभी गांव दूर था। वह भार को नीचे रख बैठ गया। दुःख के मारे वह मृत्यु को बार-बार याद कर रहा था—'अरे ! मुझे मौत क्यों नहीं उठा ले जाती ? इतने में यमराज उसके सामने आ खड़ा हुआ। वृद्ध ने पूछा—'आप कौन हैं ?' 'मैं यमराज हूँ। तूने मुझे याद किया था। इसलिए आया हूँ।' वृद्ध मौत के भय से कांपने लगा। उसने कहा—'मैंने तो आपको भार उठवाने के लिए याद किया था। कृपा कर आप लकड़ी के इस गट्टर को मेरे सिर पर रख दें।'

स्त्रीद्वयारोपमाधाय, श्वा क्षुधाकुलितो मृतः।

मोहमूढो नृपो मृत्युं, प्राप्तः खादन्निसाम्रकम् ॥७॥

१. एक धोबी के दो स्त्रियां थीं। उसके पास एक कुत्ता भी था। उसका नाम था 'सताबा'। उसे प्रायः भूखों मरना पड़ता था। दोनों उसे रोटी नहीं देती थीं। किन्तु जब वे दोनों स्त्रियां परस्पर कलह करतीं तब एक-दूसरे को 'सताबे की नार' कहती थीं। कुत्ते को इससे संतोष होता था। वह इसी संतोष में भूख से व्याकुल होकर मर गया।
२. एक राजा आम्र का शौकीन था। उसे बीमारी हो गई। वैद्य ने आम खाने की मनाही की। राजा मान गया। एक दिन वह शिकार के लिए गया। चिलचिलाती धूप में घोड़े पर दूर तक चला गया। विश्राम करने के लिए वह एक सघन आम वृक्ष के नीचे बैठा। आम की मीठी-मीठी सुगंध आने लगी। मन ललचाया। हवा के झोंके के साथ एक आम नीचे आ गिरा। वैद्य के कथन की अवहेलना कर उसने आम चूस लिया। बीमारी पुनः तेज हो गई। राजा मर गया।

जो व्यक्ति मूढ़ होता है, आसक्त होता है, वह इसी प्रकार मृत्यु का वरण करता है।

द्वितीयो विभागः

# आशुकवित्त्वम्



# प्रदत्तविषयानुबद्धम्

• •

## १ : एकता

रथ्याकूले पार्श्वयोर्भिन्नमूला,  
वृक्षा व्योम्नि प्रेमलग्ना विभान्ति ।  
छाया जाता सर्वतो व्यापिनी तद्,  
भिन्ने मूलेष्येकता श्लाघनीया ॥

मार्ग के दोनों पार्श्व में वृक्ष लगे हुए थे। उनके मूल पृथक्-पृथक् होने पर भी वे आकाश में प्रेम से मिल रहे थे। उनकी छाया चारों ओर फैल रही थी। मूल के भिन्न होने पर भी एकता श्लाघनीय होती है।

(जोबनेर—२००६ मृग० कृ० ७)

## २ : ताजमहल

रक्तोपलाः शिल्पिरुषां प्रतीका,  
अद्याऽपि शान्ति न गता इवाह ।  
बहिःप्रदेशे विशतेति बुद्ध-  
मेवस्ति नूनं हृदयानुभूतिः ॥१॥

ताजमहल के बाहर ये लाल पत्थर शिल्पियों के क्रोध के प्रतीक हैं, जो आज भी शान्त हुए प्रतीत नहीं होते।

अन्तर्गतस्ताजमहालयस्य,  
वलक्षतामैक्षिषि भव्यभित्तेः ।  
अरेऽट्टहासोऽस्ति विलासिबुद्धे-  
र्यत्कारितो ही स्वयमेव राज्ञां ॥२॥

मैंने ताजमहल के भीतर सुन्दर भित्ति की धवलिमा देखी । पर वास्तव में वह धवलिमा नहीं थी । वह तो स्वयं सम्राट् (शाहजहाँ) द्वारा कृत अपनी विलासितापूर्ण बुद्धि का अट्टहास मात्र था ।

सलाघवे पाणिघपाणिभङ्गे,  
निःश्वासवातेन कलिन्दकन्या ।  
श्यामा बभूवेति तदूर्ध्वभागे,  
गतेन नीरं दधता व्यलोकि ॥३॥

कुशल शिल्पियों के हाथों के काटे जाने पर उनकी निःश्वास वायु से यमुना का जल श्यामल हो गया । ताजमहल के उर्ध्वभाग में जाने पर यमुना के जल को अपनी आंखों में धारण करते हुए मैंने यह देखा ।

(आगरा—वि० सं० २००६ चैत्र कृ० १२-१३)

### ३ : त्रिचक्षु

श्रद्धां पुरस्कृत्य गतिं करोमि,  
बुद्धिं पुरस्कृत्य विचारयामि ।  
आत्मानुभूत्या विदधामि साक्षात्,  
त्रिचक्षुरेवं भगवन् ! भवेयम् ॥

श्रद्धा को पुरस्कृत कर गति करता रहूं, बुद्धि को पुरस्कृत कर विचार करता रहूं और आत्मानुभूति से साक्षात्कार करता रहूं—प्रभो ! इस प्रकार मैं त्रिचक्षु हो जाऊं ।

## ४ : गंगानहर

रंगत्तरंगा किमु नाम गंगा,  
नो नो तदुत्था सलिलप्रणाली ।  
भगीरथः कोऽपि किमत्र जातो,  
न ज्ञायते तेऽद्य युगे कियन्तः ॥१॥

उत्ताल तरंगों वाली गंगानहर को देखकर मन में यह प्रश्न उभरा कि क्या यह गंगा नदी है ? नहीं, यह तो उससे निकली हुई नहर है । फिर प्रश्न हुआ कि क्या कोई भगीरथ उत्पन्न हुआ है जो इसको ले आया है ? न जाने आज इस युग में कितने भगीरथ विद्यमान हैं ।

कल्लोलमालाकुलिताभिरद्भिः,  
द्वारप्रदेशे पतिताभिरुच्चैः ।  
संघर्षशीलाभिगता सवस्त्रा,  
विचित्रवेशा किल नर्तकीव ॥२॥

वह नहर ऊर्मिमाला से आकुलित तथा ऊपर से दरवाजे तक गिरते हुए पानी के साथ जूझ रही थी । वह आगे फेनिल वस्त्र पहन कर बढती हुई नहर विचित्र वेशवाली नर्तकी जैसी लग रही थी ।

घोषोऽतुलस्तद् विपुलं शरीरं,  
प्रकंपितं सूचयतीति सत्यम् ।  
अस्मिन् युगे जल्पति यः स एव,  
मुखयोऽम्बुनापि प्रतिबुद्धमेतत् ॥३॥

उसका अतुल घोष और प्रकंपित विपुल शरीर इस सत्य की सूचना दे रहा है कि इस युग में जो बोलता है वही मुख्य होता है । पानी ने भी इस रहस्य को समझ लिया था ।

निम्नं गतं वारि करोत्यनिम्नं,  
पृष्ठागतं वार्यस्परं स्ववेगात् ।  
ऊर्ध्वदमं याति पुनश्च निम्न-  
मुद्धारयेत् कः खलु निम्नवृत्तिम् ॥४॥

पीछे से आया हुआ पानी अपने वेग से पहले के पानी को ऊपर की ओर ढकेल देता है। ऊपर गया हुआ पानी फिर नीचे चला जाता है। जो निम्नवृत्ति होता है—जिसका स्वभाव नीचे की ओर जाने का होता है उसका उद्धार कौन कर सकता है ?

रोमोद्गमं द्रष्टुरिह प्रकृत्या,  
बिन्दूद्गमो वृद्धिमवाप्तुकामः ।  
वातेरितो व्योमविहारहारी,  
स्प्रष्टुं समस्तान् पथिकान् विलोलः ॥५॥

ऊपर से गिरती हुई धारा के जलकण बहने को ललचा रहे थे। देखने वालों को ऐसा लग रहा था कि मानो प्रकृति को रोमांच हो आया है। वे जलकण हवा से आकाश में उछल रहे थे और पथिकों को छूने के लिए आकुल हो रहे थे।

## ५ : आवर्त

आवर्त एकः पयसां विभाति,  
आम्यन् स्वयं आमयतेप्यशेषान् ।  
स्वसीम्नि यातान्नयतेऽपि निम्नं,  
यच्चञ्चलानां रचितं विचित्रम् ॥१॥

एक आवर्त पानी का होता है। वह स्वयं घूमते हुए सभी को घुमाता है। वह अपनी सीमा में आए हुए पदार्थ को नीचे ले जाता है। चंचल पदार्थ की प्रवृत्ति विचित्र होती है।

आवर्तमाना नयते तथोर्ध्वं,  
सोपानवीथी मनुजान् क्रमेण ।  
लक्ष्यं स्थिरं प्राप्य जनस्तदन्तं,  
गच्छेद् गतिं यः कुरुते तदर्हाम् ॥२॥

दूसरा आवर्त घूमती हुई सोपानवीथि का है। वह मनुष्यों को ऊपर ले जाती



है। जो मनुष्य उसके साथ-साथ घूमता है वह अपने स्थिर लक्ष्य को पाकर, उससे छुटकारा पा लेता है।

तृतीय एषोस्ति च भावनाया,  
ऊर्ध्वगतः कर्षति लोकमुच्चैः।  
स्वभाव ऊर्ध्वगमिनामसौ हि,  
निम्नान् जनानुन्नयते स्वतोऽपि ॥३॥

तीसरा आवर्त होता है भावना का। ऊंची भावना का आवर्त मनुष्यों को ऊंचा ले जाता है। ऊपर जाने वालों का यही स्वभाव होता है कि वे स्वयं ऊपर जाते हुए दूसरे मनुष्यों को भी ऊपर ले जाते हैं।

[वि० सं० २०११ बम्बई चातुर्मास—अमेरिकन राइटर बुडलेण्ड केलर द्वारा प्रदत्त विषय—Revolving Stairs (आवर्त) ]

## ६ : विद्वत्सभा

डॉ० के० एन० वाटवे, एम० ए० पी-एच० डी०, संस्कृत विभागाध्यक्ष, एस० पी० कॉलेज, पूना, ने आशुकवित्त्व के लिए विषय देते हुए यह श्लोक कहा—

मलिताः पण्डिताः सर्वे,  
काव्यस्य श्रवणेच्छया।  
अतो हि काव्यमाश्रित्य,  
वर्ण्यतां विदुषां सभा ॥

सभी पंडित काव्य सुनने की इच्छा से यहां एकत्रित एहु हैं। इसलिए आप (मुनिश्री) 'विद्वत्सभा' इस विषय पर आशुकवित्त्व करें।

विषयपूर्ति—

स्वातन्त्र्यं यज्जन्मसिद्धोऽधिकारः,  
येषां नादः सर्वथा श्रूयमाणः।

तेषां नाम्ना मंदिरं विद्यमानं,  
विद्वद्वर्या अत्र सर्वे प्रभूताः ॥१॥

जिस महामनीषि ने यह नारा दिया था कि 'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' और जो नाद आज सर्वत्र गूंज रहा है, उनकी नाम-स्मृति में यह 'तिलक-विद्यापीठ' बना है। आज सभी पंडित यहां उपस्थित हैं।

विलोक्य सर्वान् विदुषः प्रमोदे,  
विराजमाना गुरवो ममातः।  
इतो विराजन्ति मुमुक्षवोऽमी,  
साहित्यपाण्डित्यकलाप्रपूर्णाः ॥२॥

मैं विद्वानों को देखकर परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। एक ओर मेरे गुरुदेव आचार्य तुलसी विराजमान हैं और इधर साहित्य के विद्वान् और कला में निपुण ये मुमुक्षु बैठे हुए हैं।

ये ये विचारा मनसोद्भवन्ति,  
ज्ञातास्तथा ज्ञाततमा लसन्ति।  
आविष्करोमि प्रमनाश्च तांस्तान्,  
ज्ञेयः ससोमः समयो ममास्ति ॥३॥

जो विचार मन में उत्पन्न हो रहे हैं, वे ज्ञात और सुज्ञात हैं। फिर भी मैं प्रसन्न-मन से उन्हें अभिव्यक्त करता हूँ। मेरे बोलने का समय ससीम है, यह सब जान लें।

नाहं क्वचित् काश्चन वेद्मि विज्ञान्,  
न तेषपि जानन्तितमां च मां च।  
पूर्वोऽयमेवास्ति समागमोऽत्र,  
परं प्रमोदोस्ति महान् समन्तात् ॥४॥

यहां उपस्थित किसी विद्वान् को मैं नहीं जानता और न कोई विद्वान् मुझे पहचानता है। यह हमारा पहला ही समागम है, फिर भी चारों ओर हर्ष का वातावरण है।

येषां विचाराः प्रकृतिप्रसन्नाः,  
सद्भावना स्फूर्तिमती विभाति।

श्रोतुं विचारान् यतिनां वरेण्यान्,  
समागतांस्तान् विदन् प्रवेद्मि ॥५॥

जिनके विचार स्वभावतः निर्मल और स्पष्ट हैं, जिनकी सद्भावना स्फूर्तिमती है, जो मुनियों के वरेण्य विचार सुनने के लिए समागत हैं, उन्हें न जानता हुआ भी अच्छी तरह से जानता हूँ।

प्रमोदराशिर्नयने निमग्नो,  
विलोक्यते तत्त्वमिदं महत्तत्।  
अप्रेम्णि ये प्रेम सभाजयन्ति,  
ते पण्डिता एव न संशयोऽत्र ॥६॥

सब की आंखों में प्रमोद भरा हुआ दीखता है, यह यहाँ की मुख्य बात है। जो व्यक्ति अप्रेम में भी प्रेम का प्रभुत्व स्थापित करते हैं, वे सब पंडित होते हैं, इसमें कोई भी संशय नहीं है।

नाज्ञेषु शान्तिः स्थिरताप्रसक्तिः,  
शान्ताः स्थिराः सन्ति समे यदेते।  
विद्वत्सभेयं लसतेऽत्र रम्या,  
सर्वेऽपि विद्वांस इति ब्रवीमि ॥७॥

अज्ञ व्यक्तियों में शान्ति और स्थिरता नहीं होती। यहाँ शांति और स्थिरता दोनों हैं, अतः यह विद्वत्-सभा अत्यन्त रमणीय है और यहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति विद्वान हैं, ऐसा मैं कहता हूँ।

(तिलक विद्यापीठ, पूना, २६-२-५५)

## ७ : घटीयन्त्रम्

वाग्वर्धिनी सभा, पूना—वि० सं० २०११ फाल्गुन शुक्ला ६ (२६-२-५५)  
डा० के० एन० वाटवे, एम० ए०, पी-एच० डी० ने आशुकवित्त्व के लिए विषय देते हुए निम्न श्लोक कहा—

समयज्ञापकं नित्यं,  
नव्यानां हस्तभूषणम् ।  
स्रग्धरावृत्तमालम्ब्य,  
घटीयन्त्रं हि वर्णयताम् ॥

‘जो सदा समय बताती है, जो नौजवानों के हाथ का आभूषण बनी हुई है, उस घड़ी का स्रग्धरा छंद में वर्णन करें।’

### विषयपूर्ति—

यद्वा ज्ञातं पुराणैर्निखिलऋषिवरैर्व्योमवीक्ष्यापि कालः,  
ज्ञाता तज्ज्ञायते वा प्रकृतिविवशता साम्प्रतं वर्धमाना ।  
स्वातन्त्र्यस्य प्रणादो बहुजनमुखगः किन्तु नो कार्यरूपे,  
हस्ते बध्वा घटीस्ता भवति च मनुजश्चित्रमासामधीनः ॥१॥

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने आकाश को देखकर काल का ज्ञान किया था। किन्तु आज बढ़ती हुई प्रकृति की विवशता स्वयं ज्ञात है या ज्ञात हो सकती है। वर्तमान में स्वतन्त्रता का स्वर जन-जन के मुख पर है, किन्तु वह कार्यरूप में परिणत नहीं है। आश्चर्य है कि मनुष्य हाथ पर घड़ी बांधकर, उसके अधीन हो रहा है।

चक्षुर्यद् वान्तरालं स्फुरितमपि भवेत्तन्न यंत्रस्य चेष्टा,  
विज्ञाः पश्यन्तु सर्वे वयमिह मुनयः कस्य हस्तेऽस्ति यंत्रम् ?  
चक्षुष्मानत्र बुद्धो भरतजनपदे स्वात्मना स्वं प्रपश्येत्,  
बाह्ये दृष्टिं वितन्वन् बहिरपि सुदृश! स्यात्पराधीनचेताः ॥२॥

अन्तराल का चक्षु खुलजाता है, वह कोई यन्त्र की चेष्टा नहीं मानी जाती। सारे विद्वान् यह देखें कि हम मुनियों के हाथ में कौन-सा यन्त्र है? भारत में उसे ही चक्षुष्मान् माना है जो अपनी आत्मा से अपने आपको देखता है। चक्षुष्मान् विद्वानो! बाहर की ओर झांकने वाले का चित्त बाह्य वस्तुओं के अधीन हो जाता है।

लोकोऽयं नाम चित्रो भवति च सततं नात्र सन्देहलेशः,  
शृङ्गारार्थं प्रयत्नो भवति नवनवो ज्ञातमेतत् प्रसिद्धम् ।  
स्त्रीणां हस्ते हि दृष्टा भवति च मनुजैः साप्यलंकाररीतिः,  
घट्या व्याजेन लब्धा व्रजति च किमसौ साम्प्रतं स्त्रित्वमेतुम् ॥३॥

इसमें कोई सन्देह का अंश भी नहीं है कि यह मनुष्य बहुत विचित्र है। यहां शृंगार के लिए नए-नए प्रयत्न होते हैं— यह सबको ज्ञात है। स्त्रियों के हाथ शृंगारित होते हैं, किन्तु मनुष्यों ने भी घड़ी के मिष से हाथ को अलंकृत किया है। इससे यह आशंका होती है कि क्या मनुष्य स्त्रीत्व की ओर जा रहा है ?

लोकोऽयं जायमानो नहि नहि विदुषा विस्मयः कोपि कार्यः,  
स्त्रीत्वे पुंस्त्वं कदाचिद् भवति दृशिगतं पुंस्त्वमेवापि तत्त्वे ।  
कालोऽसीमो विभाति प्रकृतिविलसितो यद् रुचिश्चापि चित्रा,  
बुद्धेर्भेदोऽपि जातस्तदघटितघटा मन्यतामत्र सत्या ॥४॥

‘स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री बनना’—यह होता है। इसमें किसी विद्वान् को विस्मित नहीं होना चाहिए। काल असीम है। यह प्राकृतिक है। लोगों की रुचि भी भिन्न-भिन्न है। बुद्धि का तारतम्य भी है, इसलिए किसी भी अघटित घटना को सत्य माना जा सकता है।

## ८ : संस्कृतभाषाया विरोधः

डॉ० के० एन० वाटवे, एम० ए० पी-एच० डी०, संस्कृत विभागाध्यक्ष, एस० पी० कॉलेज, पूना, ने आशुकवित्त्व के लिए विषय देते हुए यह श्लोक कहा—

यच्च संस्कृतभाषाया, विरोधो दृश्यते क्वचित् ।  
तमेवाश्रित्य विषयं, काव्यमत्र विरच्यताम् ॥

‘कहीं-कहीं संस्कृत भाषा का विरोध किया जाता है। मुने ! आप इसी विषय को आधार बनाकर काव्य-रचना करें।’

### विषयपूर्ति—

यस्यां महत्त्वमहो विभाति,  
स्वाध्यात्मिकी येन गतिः प्रवृद्धा ।  
विकासमार्गो विशदो यतः स्यात्,  
तथापि लोकैः क्रियते विरोधः ॥१॥

जिस भाषा के साहित्य में महान् तत्त्व हैं, जिसने अपनी आध्यात्मिक गति को वेग दिया है, जिसके आश्रयण से विकास-मार्ग विशद हो जाता है, फिर भी लोग उसका विरोध करते हैं।

तत्रापि तथ्यं वरिवर्ति किञ्चित्,  
न संस्कृतस्यास्ति मुधा विरोधः।  
यत् संस्कृतज्ञा हि पुराणचित्ताः,  
तद् यत्र तत्राग्रहमाश्रयन्ति ॥२॥

उनके विरोध में भी कुछ तथ्य है। वे संस्कृत का व्यर्थ ही विरोध नहीं करते। संस्कृतज्ञ व्यक्ति पुराने विचारों के होते हैं। वे यत्न-तत्न आग्रह कर बैठते हैं।

सारं यथा नाम पुरातनेषु,  
तथा नवीनेष्वपि गृह्यते चेत्।  
भाषाविरोधः स्वयमेव नाशं,  
नूनं नयेन्नात्र विमर्शणीयम् ॥३॥

जिस प्रकार प्राचीनता में सारतत्त्व है वैसे ही यदि नवीनता में सारतत्त्व मान लिया जाए तो भाषा का विरोध स्वयं नष्ट हो जाता है। इसमें कुछ भी विचारणीय नहीं है।

सर्वत्र तत्त्वस्य भवेद् विरोधः,  
तत्र प्रमोदो विदुषां हि मान्यः।  
विरोधतस्तत्त्वमुपासनीयं,  
न नाम भीतिश्च ततो विधेया ॥४॥

जहां सत् तत्त्व का विरोध होता है, वहां विद्वान् व्यक्ति प्रमुदित होते हैं। क्योंकि विरोध से तत्त्व के प्रति उपासना बढ़ती है। वहां भय नहीं खाना चाहिए।

(तिलक विद्यापीठ, पूना—२६-२-५५)

## ६ : मृतभाषा

त्राग्वर्धनी सभा, पूना—वि० सं० २०११ फाल्गुन शुक्ला ६ आर० एम०  
धर्माधिकारी द्वारा प्रदत्त विषय—

“भाषा मृतेति प्रवदन्ति केचिद्,  
गीर्वाणवाणी गुणभूषिताऽपि ।  
मुनीन्द्र ! तत्त्वं कथयस्व नूनं,  
कथं पुनर्वैभवशालिनी स्यात् ॥”

‘गीर्वाणवाणी (संस्कृत भाषा) गुणों से भूषित है। फिर भी कुछेक व्यक्ति उसे मृत भाषा मानते हैं। मुनीन्द्र ! आप यह बताएं कि वह भाषा पुनः वैभवशालिनी कैसे हो ?’

विषयपूर्ति—

भाषा कदाचिन्न मृताऽमृता स्याद्,  
भाषाज्ञ एवापि मृतोऽमृतः स्यात् ।  
भाषामुपादाय जनाश्चलन्ति,  
तेषां गतिः स्याच्च समीक्षणीया ॥१॥

भाषा कभी भी मृत या अ-मृत नहीं होती। भाषाविद् ही मृत या अ-मृत होता है। लोग भाषा को लेकर चलते हैं। उनकी गति ही समीक्षणीय है।

भाषाविदां जीवनमस्ति नव्यं,  
भाषा स्वयं स्फूर्तिमिर्यति नव्याम् ।  
भाषाविदां चेज्जडता प्रसूता,  
भाषाऽपि मृत्युं लभते तदत्र ॥२॥

भाषाविदों का जीवन यदि नया होता है तो भाषा भी नयी स्फूर्ति को प्राप्त होती है। यदि भाषाविदों का जीवन जड़ होता है तो भाषा मर जाती है।

भाषाविकासं स्पृहयन्ति ये ये,  
ते ते सचेष्टाः सरसा भवन्तु ।  
भाषाविदां वृद्धिगते महिम्नि,  
भाषा स्वयं गौरवशालिनी स्यात् ॥३॥

जो-जो व्यक्ति भाषा का विकास चाहते हैं, वे सरस और सचेष्ट हों। भाषा-विदों की महिमा बढ़ने पर भाषा स्वयं गौरवशालिनी हो जाएगी।

## १० : क्रीडांगण

यस्मिन् क्रीडा यावती स्वल्परूपा,  
तावत् क्रीडाप्रांगणं स्याद् विशालम् ।  
क्रीडा वृद्धिं याति येन क्रमेण,  
तेन क्रीडाप्राङ्गणं याति सीमाम् ॥१॥

जिसमें लज्जा का भाव जितना कम होता है, उतना ही विशाल होता है उसका क्रीडा-प्रांगण। जिस क्रम से लज्जा बढ़ती है उसी क्रम से क्रीडा-प्रांगण सिकुड़ता जाता है।

क्रीडाङ्गणं स्यादुदरञ्च मातु-  
रङ्कोपि दोलापि तथा पराणि ।  
बालस्य सर्वाणि सदा समानि,  
खलूरिकाखेलनमेव यूनाम् ॥२॥

बालक के लिए क्रीडा-प्रांगण हैं—माता का उदर, माता की गोद, झूला आदि-आदि। ये सब उसके लिए सदा समान हैं। युवकों का क्रीडा-प्रांगण है—शस्त्राभ्यास की भूमि।

(वि० सं० २०१२ मृगसर कृष्णा ६, बडनगर, हजारीबाग)

## ११ : संस्कृति

न वार्दलैः क्षेत्रभिदा क्रियेत,  
नभोविहारं विदधद्भिरेभिः ।  
एकत्वमेवाम्बुधरा भजन्ते,  
तथैक्यमेवास्ति च संस्कृतीनाम् ॥१॥



आकाश में विचरण करने वाले ये बादल कभी क्षेत्र का भेद नहीं करते । वे सर्वत्र एकता रखते हैं । इसी प्रकार सभी संस्कृतियों में एकता है ।

का भारतीया च परा च कास्ति,  
दुर्लक्ष्य एषोस्ति निसर्गभेदः ।  
परन्तु धारा सलिलस्य वीक्षे,  
तदाम्बुवाहा उपयान्ति भेदम् ॥२॥

कौन-सी संस्कृति भारतीय है और कौन-सी अभारतीय, यह भेद दुर्लक्ष्य है । किन्तु जब मैं जल की धारा को देखता हूँ, तब बादल भिन्न-भिन्न हो जाते हैं ।

त्यागस्य निष्ठा प्रवरा प्रतीष्ठा,  
यत्र व्रतानां महिमा प्रकृष्टः ।  
सा भारतीया किल संस्कृतिः स्याद्,  
भिन्नाप्यभिन्नात्मगुणप्रकर्षैः ॥३॥

जहाँ त्याग की प्रवर निष्ठा और प्रतिष्ठा है, जहाँ व्रतों की प्रचुर महिमा है, वह भारतीय संस्कृति है । वह भिन्न होती हुई भी आत्मगुणों के प्रकर्ष में अभिन्न है ।

(विक्रम संवत् २०१५, कानपुर—संस्कृत गोष्ठी)

## १२ : त्रिवेणीसंगम

स्यात् सङ्गमोयं हृदयङ्गमोपि,  
तस्यैव यस्यास्ति मनःपवित्रम् ।  
प्रकाशशीलं च मलापहारि,  
प्रक्षालकं भावितवासनायाः ॥१॥

जिसका मन पवित्र, प्रकाशवान, विशुद्ध और संस्कारों का प्रक्षालन करने वाला है, वही इस संगम को हृदयंगम कर सकता है ।

प्रकाशपुत्री यमुना तदास्त,  
 प्रकाशपुत्र्या विहितं विधेयम् ।  
 विलीनमस्तित्वमहंत्वपूर्णं,  
 विधाय कार्यं विहितं प्रकाश्यम् ॥२॥

यमुना प्रकाश की पुत्री है। प्रकाशपुत्री द्वारा जो कृत है वह सबके लिए करणीय है। उसने अपने अंहता से पूर्ण अस्तित्व को विलीन कर प्रकाशोचित कार्य किया है।

व्योमापगा स्वर्गिनदी पवित्रा,  
 संप्राप्य पानीयविशालराशिम् ।  
 न खर्वगर्वं वहते कदाचि-  
 त्तेनैव तस्याश्च समुच्छ्रयोयम् ॥३॥

पवित्र और निर्मल गंगा नदी पानी की विशाल राशि पाकर भी कभी तुच्छ गर्व नहीं करती, इसीलिए उसे यह उच्चता प्राप्त हुई है।

भागीरथीयं श्रमताप्रतीकं,  
 परा प्रकाशप्रतिरूपभर्त्री ।  
 एकावदाताम्बुरिहास्ति पुण्या,  
 परा तथा श्यामलतामुपेता ॥४॥

गंगा श्रम और यमुना प्रकाश की प्रतीक है, इसीलिए गंगा का जल धवल और पवित्र है, किन्तु यमुना का जल श्यामल है।

स्यादैतयोः संगम एष पुण्य-  
 स्तदा समानाः सहजात्मलीनाः ।  
 समन्वयं नैव नराः स्पृशन्ति,  
 तत्रास्ति चिन्त्यं च महद् विचित्रम् ॥५॥

जब इन दोनों का संगम हो सकता है तो समानधर्मा और स्वभावतः आत्मा में लीन रहने वाले मनुष्य समन्वय क्यों नहीं कर पाते ? यह अत्यन्त आश्चर्यकारी और चिन्त्य तथ्य है।

आणुव्रतीयं विशदास्ति गंगा,  
 सरस्वती स्यादुपदेशवाणी ।

स्यात् सूयजाऽसौ हृदयप्रकाश-  
स्तीर्थाधिराजस्तुलसीह जातः ॥६॥

अणुद्रतों की पवित्र गंगा प्रवहमान है, सरस्वती-रूपी उपदेशवाणी प्राप्त है तथा हृदय प्रकाशरूपी यह यमुना विद्यमान है। इन तीनों का समागम आचार्य-श्री तुलसी में हुआ है। इसलिए वे तीर्थाधिराज प्रयाग हो गए।

(प्रयाग—त्रिवेणी-संगम, वि० सं० २०१५ मृग० कृ० १३)

## १३ : हिंसा-अहिंसा

हिंसाप्लुतं मानसमस्ति सर्वं,  
कीटो मृतस्तत्र मनःप्रहर्षः ।  
वीरत्वबुद्धिर्लभते प्रवृत्तिं,  
न नाम कष्टानुभवोस्ति किञ्चित् ॥१॥

सारा मन हिंसा से व्याप्त है। कोई कीट मरता है तो मन में हर्ष होता है, और अपने आपमें वीरता की बुद्धि पैदा होती है। कष्ट का तनिक भी अनभव नहीं होता।

मनोप्यहिंसाविहितं पवित्रं,  
कीटो मृतस्तत्र भवेत्स्वर्बाद्धः ।  
नान्योऽसुमान् कोपि मृतोस्ति किन्तु,  
ममैव कश्चिद् निजकोस्ति लुप्तः ॥२॥

मन यदि अहिंसा से पवित्र है, तो कोई कीट मरने पर उसके प्रति 'स्व' की बुद्धि पैदा होती है। वह सोचता है—कोई अन्य प्राणी नहीं मरा है किन्तु मेरा ही कोई स्वजन मरा है।

(हिन्दी विद्यापीठ—प्रयाग)

## १४ : अणुत्वं कथं स्यात् ?

स्वाभाविकी स्यादणुता जनानां,  
वैभाविकीयं गुरुता विभाति ।  
बन्धो जनानां विगतो यदा स्यान्,  
मुक्तः स्वयं स्यादणुरेष आत्मा ॥१॥

प्राणियों के लिए अणुता स्वाभाविक है और गुरुता वैभाविक । जब प्राणी बन्धन-मुक्त हो जाता है, तब अणु आत्मा मुक्त हो जाती है ।

लघुः सदा स्यादणुरत्र लोके,  
विनम्र एवापि लघुर्भवेच्च ।  
विनम्र एव प्रविशेद् मनस्सु,  
न वा गुरोः स्यात् सुलभोऽवकाशः ॥२॥

अणु लघु होता है और जो विनम्र होता है वह भी लघु होता है । जो विनम्र होता है वही मन में प्रवेश पा सकता है । गुरु (भारी) वहां स्थान नहीं पा सकता ।

गुरुत्वमेवाणुगतं निसर्गो,  
यद् वा गुरौ वाप्यणुता निविष्टा ।  
न सर्वथा कोपि गुरुर्न वास्ति,  
स्यात् सर्वथा सूक्ष्म इति प्रतीतम् ॥३॥

स्वाभाविक रूप से अणुता में गुरुत्व है और गुरुत्व में अणुता है । कोई सर्वथा गुरु अथवा सर्वथा अणु (सूक्ष्म) नहीं होता ।

(वि० सं० २०१५ मृग० शु० २—झूसी आश्रम के अधिष्ठाता प्रभुदत्त  
ब्रह्मचारी द्वारा प्रदत्त विषय)

## १५ : राष्ट्रसंघ

एको बहुस्यामिति भावनाद्या,  
संघप्रवृत्तिर्मनुजेषु जाता ।  
बहुप्रकाराः प्रचलन्ति संघाः,  
स्याद् राष्ट्रसंघोऽपि महांश्च तत्र ॥१॥

‘मैं अकेला हूँ, बहुत हो जाऊँ’—यह भावना आदिकाल से रही । इसी भावना ने संघबद्धता को जन्म दिया । आज अनेक प्रकार के संघ विद्यमान हैं । उनमें ‘राष्ट्रसंघ’ एक महान् संघ है ।

राष्ट्राणि सर्वाणि च तत्र काञ्चित्,  
प्राप्य स्थितिं वादमुदीरयन्ति ।  
रक्षां निजस्याधिकृतेर्विधातुं,  
स्वातन्त्र्यमर्हन्ति गतावकाशाः ॥२॥

सारे राष्ट्र वहां प्रतिनिधित्व प्राप्त कर कोई न कोई चिन्तन करते रहते हैं । अपनी प्रभुसत्ता की रक्षा करने के लिए सभी स्वतन्त्र हैं और उसके लिए सबको उचित अवसर प्राप्त है ।

परन्तु तत्र स्थितिरस्ति चित्रा,  
चीनस्य तुल्यं सुमहच्च राष्ट्रम् ।  
सदस्यतां न व्रजति प्रतीतं,  
किं राष्ट्रसंघोस्ति विडम्बना वा ॥३॥

किन्तु वहां की एक विचित्र स्थिति है । चीन जैसा विशाल राष्ट्र उसका सदस्य नहीं बन सका है । क्या यह राष्ट्रसंघ है या कोई विडम्बना ?

यस्मिन् मनुष्या अपरैर्मनुष्यै-  
घृणां विरोधं च मिथो वहन्ते ।  
स राष्ट्रसंघो यदि साम्यधारां,  
प्रवाहयेत् सार्थकतामुपेयात् ॥४॥

जहां मनुष्य दूसरे मनुष्यों के साथ घृणा और विरोध रखते हैं, वह राष्ट्रसंघ यदि समता की धारा को प्रवाहित करे तो उसके नाम की सार्थकता सिद्ध होगी ।  
(वि० सं० २०१५ मृग शु०-बनारस संस्कृत महाविद्यालय)

## १६ : मिलन

अतीतमद्यास्ति विवर्तमानं,  
वाचोपि वाग्भिर्मलिता भवन्ति ।  
रजांस्यपि स्पर्शमुपागतानि,  
मस्तिष्कमद्यास्ति हृदा सहैव ॥१॥

आज अतीत वर्तमान में समा रहा है । वाणी वाणी से मिल रही है । यहां के रजकण भी आज स्पृष्ट हो रहे हैं और मस्तिष्क भी हृदय का साथ दे रहा है । इस मिलन की अपूर्ववेला में सब परस्पर मिल रहे हैं ।

(वि० सं० २०१५ पोष शु० ६ राजगृह, वैभार पर्वत)

## १७ : वैभार पर्वत और भगवान् महावीर

मिउभावं कठोरत्तं,  
किञ्चा चिअ समन्निअं ।  
अभू परीसहेऽदीणो,  
मिऊ सव्वेसु पाणिमु ॥१॥

भगवान् महावीर मृदुता और कठोरता—दोनों भावों से समन्वित थे । वे परीषहों को सहने में कठोर—अदीन थे किन्तु सभी प्राणियों के प्रति मृदु थे ।

अंतिमं देसणं काउं,  
साहिआ अंतिमा गई ।  
अंतं किच्चा अणंतो भू,  
अयलो अक्खयो अजो ॥२॥

उन्होंने अन्तिम देशना देकर, अन्तिम गति मोक्ष को प्राप्त कर लिया । वे भव का अन्त कर अनन्त, अचल, अक्षय और अजन्मा हो गए ।

जस्स रम्माणि वक्काणि,  
कुज्जा वक्कमवक्कगं ।  
तेसि णाम समुद्धारो,  
कायव्वो सो कहं भवे ॥३॥

जिनके सुरम्य वाक्य वक्र को भी अवक्र बना देते हैं । उन वाक्यों का उद्धार करना है । यह कैसे हो ?

पसारो उवदेसाणं,  
आयत्तुलप्पसाहिओ ।  
भवे सो दिवसो धन्नो,  
भविस्सइ भविस्सइ ॥४॥

वह दिन धन्य होगा, जिस दिन भगवान् के उपदेशों का आत्मतुला से प्रसाधित प्रसार होगा ।

विगारा णिव्विगारत्तं,  
जत्थ जंति य पाणिणं ।  
को विगारो भवे तत्थ,  
भूमी चेवाविगारिणी ॥५॥

जिस भूमि पर प्राणियों के विकार निर्विकार हो जाते हैं, वहां कौन-सा विकार उत्पन्न हो सकता है ? यह सारी भूमि ही अविकारी है ।

## १८ : सम्मदाशखर

न वा स्वभावः परिवर्तितः स्यात्,  
सुनिश्चितं सत्यमिदं ब्रवीमि ।  
वनं विहायैव गता मनुष्याः,  
वनं श्रिता मोदमवाप्नुवन्ति ॥१॥

मैं यह सुनिश्चित कह सकता हूँ कि सत्य परिवर्तित नहीं होता। वन को छोड़ मनुष्य नगरों में गए किन्तु आज पुनः वन में आकर प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

सदा ऋजुत्वं पुरुषैः प्रशस्तं,  
परन्तु वक्रत्वमपि क्वचित्स्यात् ।  
वक्रैश्च मार्गैर्वयमत्र याताः,  
पन्था ऋजुर्नैव सहायकोऽभूत् ॥२॥

मनुष्य ने सदा ऋजुता की प्रशंसा की है, किन्तु कहीं-कहीं वक्रता भी प्रशस्त होती है। मार्ग वक्र थे इसीलिए हम यहां (पर्वत पर स्थित पार्श्वनाथ के मन्दिर) तक आ गए। ऋजु मार्ग (सीधा मार्ग) यहां पहुंचने में हमारा सहायक नहीं हुआ।

(वि० सं० २०१६ मृग० शु० ६, सम्मदाशखर पार्श्वनाथ मन्दिर)

## १९ : दीपमालिका

यथा वयं स्मः क्षणभङ्गुरा हि,  
तथा जगत्सर्वमिदं विभाव्यम् ।  
स्थायिप्रकाशाय सृजन्तु यत्न-  
मिति प्रदीपाः प्रकटं ध्वनन्ति ॥१॥



दीपक यह स्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि जिस प्रकार हम क्षणभंगुर हैं, उसी प्रकार सारा जगत् भी क्षणभंगुर है। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि वे स्थायी प्रकाश के लिए यत्न करें।

अहह चतुरचेता दीपमालामिषेण,  
दिवसयति निशैवं मास्म निन्दन्तु लोकाः ।  
जगति भगवतोऽयं वर्धमानस्य जातो,  
विरह इह वसत्यां भानुभायामसत्याम् ॥२॥

चतुर चित्तवाली रात्रि दीपमाला के मिष से अपने को दिन के रूप में प्रदर्शित कर रही है, इसलिए कि लोग निन्दा न करें कि असाधारण व्यक्तित्व वाले भगवान् महावीर का विरह सूर्य की प्रभा के अभाव में इस रात्रि में हुआ है।

लोका न वक्राः स्थितिरप्यवक्रा,  
कालोऽनुकूलः सुखितो जनोऽपि ।  
देवार्यदेवावतरेस्तदातो,  
भाग्योदयो वच्मि कलेः किमन्यत् ॥३॥

भगवन् ! उस समय लोग भी वक्र नहीं थे और स्थिति भी वक्र नहीं थी। काल अनुकूल था और जनसाधारण सुखी। उस समय आपने अवतार लिया। इसे मैं कलिकाल का भाग्योदय ही कहूँ, और क्या कहूँ ?

श्रेयो यदेकं मिलितं तदानीं,  
यागस्य हिंसाप्रतिरोधनस्य ।  
कियन्ति तान्यद्युगे मिलिष्य-  
न्नत्रानुमाया अपि नानुमा स्यात् ॥४॥

भगवन् ! उस समय आपको यज्ञ की हिंसा के प्रतिरोध का एक ही श्रेय मिला था। किन्तु आज के युग में आपको कितने श्रेय प्राप्त होते, इसके अनुमान का भी अनुमान नहीं हो सकता।

(वि० सं० २०१८ बीदासर—दीपावली)

## २० : नैतिकता-अनैतिकता

विलासबहुला वृत्ति-  
रत्पायश्च बहुव्ययः ।  
अपेक्षाः कृत्रिमा यत्र  
तत्र नैतिकता कुतः ? ॥१॥

जहां जीवनचर्या विलास से परिपूर्ण है, जहां आय कम और व्यय अधिक है और जहां आवश्यकताएं कृत्रिम हैं, वहां नैतिकता कैसे होगी ?

सीमामासादितो भोगः,  
व्ययश्चायानुसारतः ।  
अपेक्षाः सीमिता यत्र,  
तत्रानैतिकता कुतः ? ॥२॥

जहां भोग-विलास की सीमा है, आय के अनुसार व्यय है और आवश्यकताएं सीमित हैं, वहां अनैतिकता कैसे होगी ?

कर्त्तव्यविमुखं यत्र,  
राज्यतन्त्रं प्रविद्यते ।  
वणिजश्छलसंयुक्ताः  
तत्र नैतिकता कुतः ? ॥३॥

जहां राज्यतन्त्र अपने कर्त्तव्य से विमुख है और जहां व्यापारी छल-कपट प्रधान हैं, वहां नैतिकता कैसे होगी ?

कर्त्तव्यप्रवर्णं यत्र,  
राज्यतन्त्रं प्रविद्यते ।  
वणिजो न्याय्यसंतुष्टाः,  
तत्रानैतिकता कुतः ? ॥४॥

जहां राज्यतन्त्र कर्त्तव्य-परायण है और व्यापारी औचित्य से प्राप्त संपदा से संतुष्ट हैं, वहां अनैतिकता कैसे होगी ?

(तीसहजारी—दिल्ली, वि० सं० २०२१)

## २१ : लोकतन्त्र का उदय

आत्मानुशासनं यत्र,  
प्रामाणिकत्वमाशये ।  
सापेक्षता सहिष्णुत्वं,  
व्यक्तेः स्वतंत्रता स्फुटम् ॥१॥  
तत्रोदयं ब्रजत्याशु,  
लोकतन्त्रञ्च पुष्यति ।  
फलान्यस्योपजायन्ते,  
व्यवहारस्पृशामपि ॥२॥

जहां आत्मानुशासन, प्रामाणिकता, सापेक्षता, सहिष्णुता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य है, वहां लोकतन्त्र का उदय और विकास होता है। लोकतन्त्र के फल व्यापारियों को भी प्राप्त होते हैं।

विधीनां पालनं तत्र,  
कर्तव्यस्य प्रपालनम् ।  
स्वयमुत्तरदायित्वं,  
विश्वासोऽपि परस्परम् ॥३॥  
समानोवसरः पुसां,  
लब्धो भवति सादरम् ।  
अन्यथा लोकतन्त्रस्य,  
विच्छेदो जायते ध्रुवम् ॥४॥

लोकतन्त्र में कानूनों का पालन, कर्तव्य-परायणता, स्वयं का उत्तरदायित्व, परस्पर विश्वास, सभी मनुष्यों को समान अवसरों की प्राप्ति—ये आवश्यक होते हैं। अन्यथा लोकतन्त्र का निश्चित ही विच्छेद हो जाता है।

(दिल्ली कान्स्टीट्यूशन क्लब, वि० सं० २०२१)

## २२ : आत्मबोध

आलोकशून्या अपि सन्ति केचि-  
दालोकभीता अपि सन्ति केचित् ।  
आलोकमुग्धा अपि सन्ति केचि-  
दालोकदक्षा विरला भवन्ति ॥१॥

कुछ पुरुष आलोक से शून्य, कुछ आलोक से भयभीत और कुछ आलोक से मूढ होते हैं। किन्तु आलोक में निपुण पुरुष विरले ही होते हैं।

न चान्धकारो न च चाकचिक्यं,  
न संशयो नापि विपर्ययश्च ।  
न चापि रोगो जनयेत्प्रभावं,  
दृष्टिः प्रसन्ना मम सास्तु देवः ! ॥२॥

देव ! मेरी दृष्टि प्रसन्न रहे। अन्धकार, चाकचिक्य संशय, विपर्यय और रोग—ये मेरी दृष्टि को प्रभावित न करें।

देहप्रसादो रसनाजयेन,  
पूर्वाग्रहं मुञ्चति दृक्प्रसादः ।  
मनःप्रसादः समताश्रयेण,  
पुण्या त्रयीयं भगवन् ! मयि स्यात् ॥३॥

भगवन् ! स्वादविजय से शारीरिक स्वास्थ्य, पूर्वाग्रह के त्याग से दृष्टि का स्वास्थ्य और समता के आचरण से मानसिक स्वास्थ्य—इन तीनों का पुण्य संगम मेरे में हो।

प्रकाशरेखा भवतु प्रबुद्धा,  
शक्तिः प्रशस्ता भवतु प्रकर्षम् ।  
आनन्दसिन्धुर्भवताद् गभीरः  
तत्र प्रसादान् मम देव ! देव ! ॥४॥

देव ! आपकी कृपा से मेरे प्रकाश की रेखा जागृत हो, शक्ति प्रशस्त हो और मेरा आनन्द का सिन्धु गहरा होता रहे।

दृष्टिर्न मुह्येत् प्रतिबिम्बमात्रे,  
 दृष्टिर्न मे संशयिता कदापि ।  
 विपर्ययं गच्छतु नैव दृष्टि-  
 र्दृष्टिं लभेऽहं विशदां मुनीश ! ॥५॥

मुनीश ! प्रतिबिम्ब मात्र से मेरी दृष्टि मूढ न हो । मेरी दृष्टि में संशय और विपर्यय भी न हो । देव ! मुझे पवित्र दृष्टि का लाभ हो ।

विश्वासं कुरुसे कुरुष्व चिदि तं बाढं न वा विद्युति,  
 विश्वासं कुरुसे कुरुष्व मनसः शान्तौ न वा वार्दले ।  
 विश्वासं कुरुसे कुरुष्व सुतरां हस्ते न वा वैभवे,  
 स्थैर्ये विश्वसनं हितं स्थिरतरं तच्चञ्चले चञ्चलम् ॥६॥

यदि तू विश्वास करता है तो चैतन्य के प्रति गहरा विश्वास कर, विद्युत् के प्रति नहीं ।

यदि तू विश्वास करता है तो मानसिक शांति के प्रति विश्वास कर, बादल के प्रति नहीं ।

यदि तू विश्वास करता है तो सदा हाथ—श्रम में विश्वास कर, वैभव के प्रति नहीं ।

स्थैर्य में विश्वास करना हितकर और स्थिरतर होता है और चंचल में किया गया विश्वास भी चंचल होता है ।

(वि० सं० २०२२ अणुव्रत विहार, दिल्ली)

## २३ : भावना

विरागः सर्वदोषेभ्योऽ-  
 नुरागस्तव पादयोः ।  
 निपातः सर्वपापानां,  
 प्रणिपातस्तयोः महान् ॥१॥

प्रभो ! मैं समस्त दोषों से विरक्त और आपके चरणों में अनुरक्त हो जाऊँ तथा मेरे सभी पाप नष्ट हो जाएँ और मैं आपके महान् चरण-युगल में नत हो जाऊँ ।

मैत्र्यममित्रभाषेषु,  
मृदुता सकलेष्वपि ।  
अवक्तव्ये ध्रुवं मौन-  
माप्तं स्यात्त्वत्प्रसादतः ॥ २ ॥

प्रभो ! मैं आपकी कृपा से अमित्र भाव में भी मैत्री, सभी जीवों के प्रति मृदुता और अवक्तव्य के प्रति मौन रहूँ ।

(वि० सं०—२०२३ दीपावली, बीदासर)

## २४ : मणिशेखर चोर

सत्यं गुणानामिह मातृभूमि-  
रसत्यमाधारशिलाऽगुणानाम् ।  
सत्यस्य पूजा परमात्मपूजा,  
सत्यात् परो नो परमेश्वरोऽस्ति ॥ १ ॥

मुनि ने मणिशेखर से कहा—‘सत्य गुणों की मातृभूमि है और असत्य अगुणों की आधारशिला । सत्य की पूजा परमात्मा की पूजा है । सत्य से बढ़कर कोई परम ईश्वर नहीं है ।’

चौर्यं करिष्यामि मुने ! नितांतं,  
वक्ष्यामि सत्यं मनसापि वाचा ।  
त्यक्तुं न चौर्यं प्रभवामि साधो !,  
वक्तुं परं सत्यमहं समर्थः ॥ २ ॥

मणिशेखर ने मुनि से कहा—‘मैं चोरी अवश्य करूँगा किन्तु मन और वाणी से सदा सत्य बोलूँगा । प्रभो ! मैं चोरी छोड़ नहीं सकता किन्तु सत्य बोलने में समर्थ हूँ ।’

घोरा तमिस्रा सघनं तमिस्रं,  
बन्धो ! कथं भ्राम्यसि रात्रिमध्ये ?  
पृष्ठो नृपेणाह स चोरमुख्यः,  
चौर्यं विधातुं नृपसद्मं यामि ॥३॥

एक दिन मणिशेखर चोरी करने निकला । रास्ते में परिवर्तित वेश में राजा मिला । राजा ने पूछा—‘भाई ! रात अंधेरी है और अंधकार भी सघन है । ऐसी रात में क्यों घूम रहे हो ?’ चोर सम्राट् मणिशेखर बोला—‘मैं राजा के महल में चोरी करने जा रहा हूँ ।’

चोरोऽपि सत्यं वदतीति राज्ञो,  
न कल्पना चेतसि संब्रभूव ।  
विधाय चौर्यं पुनरागतस्य,  
प्रश्नस्तथैवोत्तरमत्र जातम् ॥४॥  
चौर्यं कृतं क्वेति जगाद राजा,  
प्रासादमध्ये नृपतेः स चाह ।  
भ्रान्ताशयोऽसौ ग्रथिलोऽथवा स्यात्,  
संचिन्त्य राजा स्वगृहं जगाम ॥५॥

चोर भी सत्य बोलता है—राजा को ऐसी कल्पना भी नहीं थी । चोर चोरी कर आ रहा था । राजा पुनः मिला । चोर से पूछा—‘तुम कहाँ गए थे ?’ चोर ने कहा—‘चोरी करने गया था ।’ राजा ने फिर पूछा—‘तुमने चोरी कहाँ की ?’ चोर ने कहा—‘राजा के महल में ।’ राजा ने यह सोचा—यह व्यक्ति या तो पागल है या विक्षिप्त है । राजा अपने स्थान पर आ गया ।

जग्राह पेढायुगलं मणीना-  
मेकां च मंत्री स्वगतं चकार ।  
चोरो गृहीतः समुवाच सत्यं,  
न सत्यमुक्तं सचिवेन किञ्चित् ॥६॥

मणिशेखर ने राजा के खजाने से रत्नों की दो डिबियां चुराई थीं । प्रातः-काल चोरी की बात सुन मन्त्री खजाने में गया और वहाँ पर बची एक डिबिया को स्वयं घर ले गया । दूसरे दिन चोर पकड़ लिया गया । उसने राजा के समक्ष चोरी स्वीकार करते हुए कहा—‘मैंने रत्नों की दो डिबियां चुराई हैं ।’ राजा ने

कहा—‘वहां तीन डिबियां थीं।’ चोर ने कहा—‘दो मैंने ली थीं और तीसरी वहां रख दी थी।’ राजा ने मन्त्री से पूछा। मन्त्री ने सच नहीं कहा। राजा के मन में सन्देह हुआ। खोज करने पर एक डिबिया मन्त्री के घर मिली।

चोरोऽपि सत्यं वदतीति राज्ञा,  
व्यघायि सोऽमात्यवरः स्वराज्ये ।  
अमात्यवर्योऽपि वदन्नसत्यं,  
कारागृहे वासमलं चकार ॥७॥

‘चोर भी सत्य बोलता है’—ऐसा सोचकर राजा ने मणिशेखर को अपने राज्य का सचिव बना दिया और ‘मन्त्री होकर झूठ बोलता है’—ऐसा सोचकर उस मन्त्री को जेल में डाल दिया।

(वि० सं० २०२३ माघ, बम्बई—डॉ० नार्मन ब्राउन, संस्कृत विभागाध्यक्ष,  
पेनिसिलेविया यूनिवर्सिटी, अमेरिका, द्वारा प्रदत्त विषय)

## २५ : समुद्र और वृक्ष-लयन

सिन्धुर्गजि व्यधित विपुलां विक्षिपन् वीचिमालां,  
शान्ता श्यामा विधुधवलिता तत्सहाया प्रजाता ।  
प्रासादानामपि विटपिनां तीरदेशे स्थितानां,  
भीतिदृष्टा न खलु वदने तत्र हेतुः समुद्रः ॥१॥

समुद्र लहरों को उछालता हुआ जोर से गर्जन कर रहा था। चांद की चांदनी से धवलित अंधेरी रात समुद्र के गर्जारव को फैलाने में सहायक हो रही थी, किन्तु तट पर स्थित बड़े-बड़े मकान और वृक्ष निष्प्रकम्प खड़े थे। उनमें भय का लवलेह नहीं था। इसका मूल कारण था समुद्र। क्योंकि समुद्र अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता।

उत्कीर्याद्रि लयननिवहः संस्कृतोऽदृष्टपूर्वः,  
छित्त्वा स्कन्धं वरशिखरिणो निर्मितो नोटजश्च ।



दृष्टादृष्टे यदिह तुलनाऽधीयते तर्हि दृष्टं,  
नादृष्टस्यार्हति किल कलां षोडशीं चापि विश्वे ॥२॥

पहाड़ को कुरेदकर बनाए गए मकानों की पंक्ति हमने देखी थी। किन्तु वृक्ष के स्कन्ध को छीलकर एक उटज का निर्माण, हमारे लिए अदृष्टपूर्व था। दृष्ट और अदृष्ट में यदि तुलना की जाए तो जो दृष्ट है वह अदृष्ट के सोलहवें भाग में भी नहीं आ सकता।

(घोलवड—महाराष्ट्र-२०-१२-६७)

## २६ : अहिंसायां अपवादः

दुर्बलत्वं भवेद् यत्र,  
तत्रापवादकल्पना ।  
प्रबलत्वं यदा स्वस्या-  
पवादाः फल्गुतां गताः ॥१॥

जहां दुर्बलता होती है वहीं अपवाद की कल्पना होती है। जहां अपनी प्रबलता होती है वहां अपवाद निरर्थक हो जाते हैं।

अहिंसाकाशरूपेण,  
सर्वत्रास्त्येकरूपगा ।  
दुर्बला जायते भित्तिः,  
विवरं जायते तदा ॥२॥

अहिंसा आकाश की भांति सत्रंन एक-रूप है। जब भीत दुर्बल होती है, तब उसमें छेद होता है।

भित्तौ विवरभावोऽपि,  
न च स्वाभाविको भवेत् ।  
नापवादस्य चर्चाऽपि,  
क्रियते श्रूयते क्वचित् ॥३॥

भीत में छिद्र स्वाभाविक नहीं लगता । इसी प्रकार अहिंसा में अपवाद की चर्चा क्रियमाण और श्रूयमाण नहीं है ।

(१४-४-६८—तिलक विद्यापीठ,पूना)

## २७ : तुलना

विषय—

[सर्वव्याप्यप्यनाधारं जगदाधारकं महत् ।  
अनाद्यनन्तमतुलं, सर्वाश्चर्यमयं नभः ॥  
तदिदं परमेशस्य, ब्रह्मणो वा जिनस्य वा  
रूपेण तुलनां कृत्वा, गैर्वाण्यैवात्र वर्णयताम् ॥

सर्वव्यापी और निराकार होते हुए भी जगत् को आधार देने वाला, महान् अनादि-अनन्त, अतुलनीय और सबके लिए आश्चर्यकर आकाश की परमेश्वर, ब्रह्मा और जिनके रूप से तुलना करते हुए संस्कृतवाणी में उसका वर्णन करें ।]

विषयपूर्ति—

परत्वबुद्ध्या प्रभृतं मनः स्यात्,  
तदावकाशं न परे लभन्ते ।  
आधारभूतो भवने स एव,  
यस्यास्ति रिक्तं च मनः समस्तम् ॥१॥

जब मन 'परत्व' की बुद्धि से भरा होता है तब उसमें दूसरे (पर) प्रवेश नहीं पा सकते । जिसका मन समूचा खाली है, वही जगत् का आधार बन सकता है ।

देवो भवेद् वापि जिनो भवेद् वा,  
स एव लोके शरणं ददोत ।  
शून्यत्वमाप्तो हि परं विभक्तिं,  
भतो न वा क्वापि करोति निष्ठां ॥२॥

देव हो या जिन, वही लोक में शरणभक्त होता है जो विकल्प से शून्य है। जो शून्य होता है वही दूसरे को धारण कर सकता है। जो स्वयं भरा हुआ है, वह दूसरे को निष्ठा (आधार) नहीं दे सकता।

लोकस्य नादित्वमिदं गृहीतं,  
तथैव देवस्य न वा गृहीतम् ।  
यत्रैतदस्ति प्रवरं तदानीं,  
तुलाऽतुला वा न च वर्णनीया ॥३॥

लोक का आदि-काल ज्ञात नहीं है। इसी प्रकार देव का आदि-काल भी ज्ञात नहीं है। जहाँ अनादित्व प्रवर है, वहाँ तुलना और अतुलना वर्णित नहीं हो सकती।

आकाशमेतद् न कदापि बुद्धं,  
शून्यं ततश्चापि च वर्ण्यमानम् ।  
तथैव भूयो भगवत्स्वरूपं,  
भवेच्च चित्रं तदिदं विशिष्टम् ॥४॥

यह आकाश है, ऐसा कभी ज्ञात नहीं हुआ। इसीलिए वह शून्यरूप से वर्णित हो रहा है। इसी प्रकार भगवान का स्वरूप भी कभी ज्ञात नहीं होता, फिर भी वह शून्य के रूप में वर्णित होता है। यह बहुत आश्चर्य की बात है।

सीमां गतः कोपि जनो जगत्यां,  
नाधारकत्वं न तथाऽतुलत्वम् ।  
प्राप्नोति तेनाऽथ जनोपि देवः,  
स्यात् चित्रकारीति तनोमि भावंम् ॥५॥

सीमा में रहने वाला कोई भी मनुष्य न आधार बनता है और न अतुलनीय होता है। इसीलिए मनुष्य देव बनना चाहता है। यह आश्चर्यकारी है, ऐसा मैं कहता हूँ।

भूमिविशाला च ततः समुद्रः,  
ततो नभः स्याद् भगवांस्ततोऽपि ।  
भक्तस्य चित्तं च ततोपि बाढं,  
नाश्चर्यमेतद् भुवने किमस्ति ? ॥६॥

११० अतुला तुला

भूमि विशाल है। उससे समुद्र विशाल है। समुद्र से आकाश और आकाश से ईश्वर विशाल है। किन्तु भक्त का चित्त ईश्वर से भी विशाल है। क्या यह संसार में आश्चर्य नहीं है ?

(१४-४-६८—तिलक विद्यापीठ, पूना)

## २८ : सामञ्जस्य

विषय—

तत्त्वज्ञानस्य भेदानां सामञ्जस्यं कथं भवेत् ?  
तत्त्व-ज्ञान में भेदों का सामंजस्य कैसे हो ?

विषयपूर्ति—

भेदोऽस्ति बुद्धौ न चिदीहभेदोऽ-  
भेदेपि भेदं वयमाश्रयामः ।  
बुद्धिं तिरस्कारपदं नयामः,  
समन्वयोऽयं सुलभोऽस्ति सर्वः ॥१॥

भेद बुद्धिगत है, चैतन्यगत नहीं। हम अभेद में भी भेद को स्वीकार करते हैं। यदि हम बुद्धि को छोड़ दें, तो सारा समन्वय सुलभ हो जाता है।

सत्यं द्वयं नास्ति कदापि लोके,  
तदस्ति बुद्धौ च विभज्यमानम् ।  
अतिक्रमं बुद्धिगतं विधाय,  
भेदस्य मूलं परिपोषितं स्यात् ॥२॥

संसार में सत्य दो नहीं होता। बुद्धि में प्रवेश पाकर वह सत्य विभक्त हो जाता है। बुद्धिगत-विभक्त-सत्य का सहारा लेकर ही भेद की जड़ें परिपुष्ट होती हैं।

ज्ञानं यदा शब्दगतं प्रकाशं,  
जनानशेषान नयमानमस्ति ।

तावन्न भेदस्य भवेद् विलोपः,  
शब्देन लोकाः सकला विभक्ताः ॥३॥

जब तक ज्ञान शब्दगत प्रकाश में सारे लोगों को ले जाता रहेगा, तब तक भेद नहीं मिट सकता। सारे लोग शब्दों के माध्यम से ही बंटे हुए हैं।

आत्मप्रकाशी भविता प्रबोधः,  
दृष्टिश्च वैशद्यमुपाश्रिताऽसी।  
प्रत्यक्षबोधे रममाण एष,  
भेदं न कुत्राऽपि करोतु सत्ये ॥४॥

जब मनुष्य का प्रबोध आत्म-प्रकाशी और दृष्टि विशद होगी तब वह प्रत्यक्ष ज्ञान में विचरण करता हुआ सत्य को कभी विभक्त नहीं करेगा।

आरोपबुद्धिर्गलिता यतः स्यात्,  
ततोमिथः स्याद् मिलनं चवार्त्ता।  
स्वतन्त्रभावोऽपि विचारकार्ये,  
समन्वयस्यैष महानुपायः ॥५॥

समन्वय के ये तीन महान् उपाय हैं—

१. एक-दूसरे पर आरोप लगाने की वृत्ति का अभाव।
२. परस्पर मिलन और वार्त्ता।
३. विचार और कार्य में स्वतन्त्रता।

(१४-४-६८—तिलक विद्यापीठ, पूना)

## २६ : विषयद्वयी

१४-४-६८ को तिलक विद्यापीठ, पूना में एक पंडित ने मुनिश्री को विषय देते हुए यह श्लोक कहा—

अपरा वा परा विद्या,  
भूकम्पाद् रक्षणं नृणाम्।  
छन्दसा संस्कृतेनात्र,  
स्वाभिप्रायः समर्थ्यताम् ॥

‘अपरा और परा विद्या’ तथा ‘भूकम्प से लोगों का संरक्षण’—इन विषयों पर आप संस्कृत काव्य में अपने अभिप्राय व्यक्त करें।

विषयपूर्ति—

## अपरा-परा विद्या

परापरत्वेन विभज्यमाना,  
विद्याद्वयीयं विदुषां समस्ति ।  
परत्वमेतत् प्रियतामुपैति,  
केषांचिदेवाप्यपराऽत्र विद्या ॥१॥

विद्वानों में दो विद्याएं सम्मत हैं—परा और अपरा। इस संसार में कुछेक मनुष्यों को परा विद्या प्रिय होती है और कुछेक लोगों को अपरा विद्या प्रिय होती है।

ये सूक्ष्मभावा मनुजा भवन्ति,  
सूक्ष्मां परां ते सततं स्पृशन्ति ।  
ये स्थूलदृष्टि श्रितवन्त एव,  
विद्या हि तेषामपरा विभाति ॥२॥

जो मनुष्य सूक्ष्म विचार वाले हैं, वे सतत परा विद्या का स्पर्श करते हैं और जो स्थूल दृष्टि वाले हैं, वे अपरा विद्या का आश्रय लेते हैं।

आत्मास्ति दृष्टो विबुधैः प्रकामं,  
दृष्टिश्च येषां विशदत्वमाप्ता ।  
अध्यात्मभाजो मनुजा विशिष्टाः,  
परासु, विद्यासु भृशं यतन्ते ॥३॥

जिनकी दृष्टि विशदता को प्राप्त हो गई है, उन विबुधों ने आत्मा को देखा है। जो मनुष्य विशिष्ट रूप से आध्यात्मिक होते हैं, वे परा विद्याओं में अत्यधिक प्रयत्नशील रहते हैं।

देहेषु बुद्धिश्चरतीह येषां,  
 देहस्पृशस्ते मनुजा भवन्ति ।  
 ते स्थूलदृष्ट्या सततं लभन्तेऽ-  
 परां च विद्यामविकम्पमानाः ॥४॥

जिन मनुष्यों की बुद्धि जड़ शरीर में ही विचरण करती है, वे शरीर का स्पर्श करने वाले होते हैं। वे अपनी स्थूल-दृष्टि से बिना हिचक के सदा अपरा विद्या को ही प्राप्त होते हैं।

## भूकम्प

या स्यात्प्राकृतिकी प्रकोपपटली तस्या भवेद् रक्षणं,  
 चेष्टा मानसिकी तथैव सकला वृत्तिः समायोजिता ।  
 के के देहभृतो न कम्पनयुताः स्युश्चित्तवृत्तिं श्रिताः,  
 कम्पं स्वात्मगतं न यावदतुलं पश्यन्ति रक्षा कुतः ॥१॥

जो प्राकृतिक प्रकोप होता है, उससे रक्षा करने के लिए मानसिक चेष्टा और सारी प्रवृत्तियां समायोजित होती हैं। मन के पीछे चलने वाले ऐसे कौन मनुष्य हैं जो कम्पनयुक्त नहीं हैं ? जब तक मनुष्य अपने आत्मगत अतुल कम्पन को नहीं देख पाते, तब तक रक्षा कैसे हो सकती है ?

चेत्सत्यबुद्ध्या स्थिरचेतसः स्यु-  
 र्नाम भूकम्प इहास्तु भूयः ।  
 तदा स्वकम्पात् विरता भवेयुः  
 रक्षाऽभ्युपायो गदितो मयात्र ॥२॥

यदि मनुष्य सत्यबुद्धि से स्थिरचित्त वाले हो जाएं तो फिर यहां भूकम्प नहीं होने वाला है। तभी वे अपने कम्पनों से विरत हो सकते हैं। भूकम्प से रक्षा का यह उपाय मैंने प्रतिपादित किया है।

भूमौ प्रकम्पः क्वचिदेव जातः,  
 चिन्ता समस्तानुगता समेषाम् ।

प्रकम्प एवात्मनि जायमानः,  
चिरं न चिन्ता परिलक्ष्यतेऽत्र ॥३॥

भूमी का कंपन कहीं एक क्षेत्र में हुआ है, किन्तु सभी व्यक्ति इससे चिन्तित हो गए हैं। किन्तु आत्मा में सतत प्रकम्पन हो रहा है, इसकी कोई चिन्ता परिलक्षित नहीं हो रही है।

क्रोधस्य कम्पश्च तथैव माया,  
प्रकम्पमाना नितरां प्रभाति ।  
लोभश्च गृद्धिश्च परानुभूति-  
भूकम्प एवास्ति कथं न तत्र ॥४॥

जहां निरन्तर क्रोध, माया, लोभ, गृद्धि और परानुभूति के प्रकम्पन हो रहे हैं, वहां भूकम्प कैसे नहीं होता ?

असत्प्रवृत्तिर्मनुजस्य वृद्धा,  
पापस्य चौर्यस्य महान् प्रयत्नः ।  
व्यापारकार्येऽपि तथा प्रवृत्तिः,  
स्याच्चौर्यकार्यानुगता बहूनाम् ॥५॥

आज मनुष्यों में असत् प्रवृत्ति बढ़ रही है। पाप और चोरी का महान् प्रयत्न हो रहा है। व्यापार में भी चोरी की प्रवृत्ति वृद्धिगत हो रही है।

लंचाग्रहोप्यस्ति च लोकमध्ये,  
विश्वासघातः प्रबलोस्ति पुंसाम् ।  
तथापि भूकम्प इहास्तु मा मा,  
केयं प्रवृत्तिः खलु भाति पुंसाम् ॥६॥

लोगों में रिश्वत और विश्वासघात की प्रबलता है। फिर भी लोग चाहते हैं कि 'भूकम्प न हो,' 'भूकम्प न हो'। मनुष्यों की यह कैसी प्रवृत्ति ?

नात्मा विशुद्धो भवितास्ति यावत्,  
न कर्म शुद्धं खलु विद्यमानम् ।  
तावत् प्रकम्पो भवितास्ति नूनम्  
रक्षां कथं नाम करोतु देवः ॥७॥



जब तक आत्मा पवित्र नहीं होती और बंधे हुए कर्म नहीं टूटते तब तक प्रकम्प होता रहेगा। देव भी रक्षा कैसे कर सकते हैं ?

पापप्रवृत्ति च समाचरन्तः,  
फलं वरेण्यं स्पृहयन्ति लोकाः।  
विरोधिकार्यं कथमस्ति भावि,  
भूयात्तदानीं जगदेव लुप्तम् ॥८॥

मनुष्य पाप की प्रवृत्ति करते हुए भी अच्छे फल पाने की इच्छा करते हैं। यह विरोधी बात कैसे हो सकती है ? यदि ऐसा हो जाए तो जगत् ही लुप्त हो जाए।

### ३० : नयवाद

विरोधियुगं कथमत्र भूयात्,  
प्रतीतिरेषाऽस्ति पुरातनानाम्।  
वैज्ञानिकेस्मिन् समये मनुष्यै-  
भिन्नत्वमाप्तं बहुधा प्रवृत्तैः ॥१॥

एक ही वस्तु में विरोधी युगल कैसे रह सकता है—यह प्रतीति पुराने व्यक्तियों की है। आज के इस वैज्ञानिक समय में बहुधा-प्रवृत्त मनुष्यों ने भिन्नता प्राप्त की है।

अस्तित्वमाधाय यदस्ति नित्यं,  
नास्तित्वहीनं न तदस्ति नूनम्।  
सतोऽसतश्चापि न कोपि भेदः,  
सर्वत्र युगं लभते प्रवृत्तिम् ॥२॥

जो पदार्थ अस्तित्व धर्म की अपेक्षा से नित्य है वह निश्चय ही नास्तित्व से विहीन नहीं है। यदि ऐसा न हो तो सत् और असत् में कोई अन्तर नहीं हो सकता, इसलिए सर्वत्र विरोधी-युगम मिलते हैं।

यावज्जगत्यामिह वर्तमानं,  
तदेव भूतं च तदेव भावि ।  
न चाणुमात्रं लभतेऽत्र हानिं,  
नोत्पत्तिमन्यां लभते नवीनम् ॥३॥

जो इस जगत् में वर्तमान है, वही रहा है और वही होगा । न अणुमात्र कम होता है और न अणुमात्र नए रूप में उत्पन्न होता है ।

शब्दस्य नूनं विकला प्रवृत्तिः,  
नैकक्षणे वाच्यमशेषितं स्यात् ।  
स्याच्छब्दयुक्ता भवति प्रवृत्तिः,  
वक्तुं क्षमा वस्तुसमग्ररूपम् ॥४॥

शब्द की प्रवृत्ति विकल होती है । एक क्षण में वह वाच्य को अशेष रूप में कह नहीं पाता । जब वह शब्द 'स्यात्' युक्त होता है, तभी वह वस्तु के समग्र रूप का वाचक बनता है ।

वाच्यो न वाच्यः सकलः पदार्थः,  
स्याच्छब्दयुक्तो भवतीह वाच्यः ।  
एकेन धर्मेण च वाच्यमानं,  
समग्रवस्तु स्थिरतामुपैति ॥५॥

पदार्थ वाच्य होने पर भी अनन्तधर्मा होने के कारण वाच्य नहीं है । वह 'स्यात्' शब्द से युक्त होकर ही वाच्य बनता है । समग्र वस्तु यदि एक धर्म के द्वारा वाच्य होती है तो वह वर्तमान पर्याय में ही स्थिर हो जाती है, गतिशील नहीं रहती और नए-नए पर्यायों के उत्पन्न होने की क्षमता को खो बैठती है ।

भङ्गत्रयीयं विबुधैः प्रबुद्धा,  
चतुष्टयं भङ्गमितो विकल्प्यम् ।  
विकल्पमात्रेण भवेत्प्रवृत्तिः,  
सापेक्षभावान् प्रति सत्यलब्धान् ॥६॥

विद्वानों ने तीन भंगों (विकल्पों) का कथन किया है—स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अवक्तव्य । शेष चार भंग—स्याद् अस्ति-नास्ति, स्याद् अस्ति-अवक्तव्य, स्याद् नास्ति-अवक्तव्य और स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य—इन्हीं के

द्वारा विकल्पनीय हैं। सत्य के द्वारा लब्ध सापेक्ष भावों के प्रति विकल्पमात्र से ही प्रवृत्ति होती है।

स्यात्सप्तभङ्गी विशदा विबोधे,  
भेदानशेषान् परिकल्पयन्ती।  
अनन्तभेदा अपि संगृहीताः,  
समस्यमानाश्च विविच्यमानाः ॥७॥

समग्र भेदों की परिकल्पना करने वाली यह सप्तभंगी ज्ञान के लिए विशद उपाय है। इसके द्वारा वस्तु के समस्यमान और विविच्यमान अनन्त धर्म संगृहीत हो जाते हैं।

(२४-४-६८ डेक्कन कालेज, पूना में श्री श्रीनिवास शास्त्री द्वारा प्रदत्त विषय)

## ३१ : कलाक्षेत्र

सरस्वतीयं वरदा विभाति,  
आचार्यवर्याविरतो विभान्ति।  
कक्षावलीयं ललिता मनोजा,  
कलाकलापः कुरुते प्रमोदम् ॥१॥

इधर सरस्वती की प्रतिमा और इधर आचार्य तुलसी विराजमान हैं। यह कक्षावली ललित और मनोज्ञ है। यहां का सारा कलाकलाप प्रमुदित हो रहा है।

चित्तं कलायां ललितं प्रसन्नं,  
कलाविदां कान्ततरः स एव।  
न षोडशीं नाम कलां च सोर्हेत्,  
चित्तं विलुप्तं वरिर्वति यस्य ॥२॥

कलाविदों में वही श्रेष्ठ है जिसका मन कलाओं से ललित और प्रसन्न हो

चुका है। जिसका मन विलुप्त है, वह कला की सोलहवीं कला को भी नहीं पा सकता।

सर्वा कला धर्मकलाप्रविष्टा,  
चित्तं यतः स्वास्थ्यमुपैतिभ व्यम् ।  
चित्तस्य नाशेन कलाकला स्यात्,  
सर्वस्तथैवाभिनयोभिनीतः ॥३॥

सारी कला धर्म-कला में प्रविष्ट है। इससे चित्त प्रसन्न होता है। चित्त के नष्ट होने पर कला अ-कला हो जाती है। इसी प्रकार सारा अभिनीत अभिनय अनभिनय हो जाता है।

स्वराः कलास्थानमुपाव्रजन्ति,  
तथा शरीरावयवा अशेषाः ।  
कलामयं विश्वमिदं समस्तं,  
कलामयं यस्य मनो विभाति ॥४॥

जिसका मन कलामय है उसके सारे स्वर और शरीर के सभी अवयव कला बन जाते हैं तथा यह सारा विश्व कलामय हो जाता है।

केशावलीयं ललिता सुरम्या,  
चक्षुः प्रसन्नं विमला प्रवृत्तिः ।  
सौन्दर्यमेतत्सहजं वरेण्यं,  
क्षेत्रं कलायाश्च भवेत्तदेव ॥५॥

ललित और सुरम्य केश-राशि, प्रसन्न चक्षु और निर्मल प्रवृत्ति—यह व्यक्ति का सहज-श्रेष्ठ सौन्दर्य है और वस्तुतः यही कला-क्षेत्र है।

(३-११-६८ अडियार (तमिलनाडु) में रूक्मणी देवी अरुंडाल के कला-क्षेत्र में)

## ३२ : त्रिनेत्र

दृष्टिर्यस्यास्ति निद्रामपि च गतवतो द्रष्टुमर्हेन्न सत्य-  
मेकं नेत्रं विनिद्रं भवति परिचितं किञ्चिदालोक्तं तत् ।  
नेत्रे द्वे स्ते विनिद्रे प्रतिपलकमसौ मज्जतात्सत्यसिन्धौ,  
सप्तः सप्तार्कनुन्नारुणकिरणनिभः पातु बिभ्रन् त्रिनेत्रः ॥१॥

जिसकी दृष्टि सुप्त है, वह सत्य को नहीं देख पाता । जिसकी एक आंख खुली है, वह कुछ परिचित पदार्थों को देख सकता है । जिसकी दो आंखें खुली हैं, वह प्रतिपल सत्य के समुद्र में डुबकियां लेता रहता है । किन्तु त्रिनेत्र, जो सात घोड़ों से प्रेरित सूर्य की किरणों के समान तेजस्वी है, वह सत्य का पारगामी होता है, 'वह हमारी रक्षा करे ।

(१७-११-६८ मद्रास संस्कृत कॉलेज)

## ३३ : अदृश्य-दर्शन

चिदम्बरे भानुरुदेति पूषा,  
चिदम्बरे गच्छति मेघमाला ।  
सर्वेऽपि लोकाः विहिताशयाः स्युः,  
चिदम्बरत्वं न वृतं यदा स्यात् ॥१॥

चिदाकाश में पूषा—सूर्य उदित होता है और चिदाकाश में ही मेघमाला उमड़ती है । जब चिदाकाश आवृत नहीं होता तब सारे लोग अच्छे विचारों वाले होते हैं ।

सर्वा तपस्यापि च साधनापि,  
सर्वोऽपि पुसां श्रम एव लोके ।  
चिदम्बरत्वं खलु लब्धुमेव,  
बिना तदेतत्सकलं विसारम् ॥२॥

सारी तपस्या, साधना और सभी व्यक्तियों का श्रम केवल चैतन्याकाश को पाने के लिए ही होता है। उसके बिना सब कुछ बेकार है।

आचार्यवयस्तुलसी वरेण्याः,  
चिदम्बरादाप्तशरीरपोषाः ।  
ज्ञानं विवेकस्य विलब्धुमत्र,  
चिदम्बरे संप्रति प्राप्तवन्तः ॥३॥

श्रीमद् आचार्य तुलसी उसी चिदाकाश से शरीर में पोषण पा रहे हैं। वे विवेक का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अभी चिदम्बर में आए हैं।

रूपं न रूपं यदि नास्ति दृष्टं,  
न नामरूपे विहिते हि काम्ये ।  
क्व पारदर्शी स्फटिकावदात्,  
आत्मा मदीयस्त्विति दर्शनार्थी ॥४॥

वह रूप रूप नहीं है जो दृष्ट नहीं होता तथा नाम और रूप अभिलषणीय रूप में विहित नहीं हैं। 'मेरा स्फटिक की भांति निर्मल और पारदर्शी आत्मा कहां है'—यह देखने का अर्थी होकर मनुष्य चिदाकाश में घूम रहा है।

रूपं विलोक्यापि न दृष्टमत्र,  
दृश्यं यदत्रास्ति च चक्षुषापि ।  
अदृश्यमाद्रष्टुमिहाव्रजन्ति,  
लोकाः स्वचक्षुर्विहितावभासाः ॥५॥

मनुष्य ने रूप को देखकर भी यहां उसे नहीं देखा जो चक्षु के द्वारा दृश्य है। इसलिए मनुष्य अपनी आंखों में ज्योति संजोकर अदृश्य को देखने के लिए यहां 'चिदंबर' में आ रहे हैं।

(२५-१-६९ चिदम्बरम्, तमिलनाडु, नटराज मन्दिर)

## ३४ : कलश

मांगल्यधाम परमः कलशो विभाति,  
सर्वत्र पूजितजनैः विहितो मतश्च ।  
पूर्णत्वभावगरिमां वृणुते तदैव,  
यद् व्यापृतो जलभृतश्चलितो न किञ्चित् ॥१॥

कलश परम मंगल है। यह सर्वत्र पूजित-जनों (पूर्वजों) द्वारा सम्मत और विहित है, क्योंकि यह पूर्णता का द्योतक है। पूर्णता और गरिमा उसी को प्राप्त होती है जो व्यापृत होने पर भी कभी नहीं छलकता।

कल्याणमेतत् किल धातुपात्रं,  
पात्रं पवित्रं हृदयं भवितु ।  
आचार्यवर्याः हृदयानुभूति-  
प्रपूतचित्ताः परमाः पवित्राः ॥२॥

यह धातु-पात्र कलश मंगल माना जाता है। हृदय-पात्र तो सबसे बड़ा मंगल है। हृदय की अनुभूति से पवित्र चित्तवाले आचार्यवर्य परम पवित्र हैं।

(त्रिवेन्द्रम् (केरल), राजप्रासाद में महारानी सेतुपार्वती  
द्वारा प्रदत्त विषय, १८-३-६९)

## ३५ : समागमन

मध्याह्नवेला परमा प्रशस्ता,  
मित्रानुभूतेः स्मृतिरत्र पूर्णा ।  
अतीत भावोऽपि च वर्तमाने,  
समन्वितः स्यात् क्वचिदेव लब्धः ॥१॥

यह प्रशस्त मध्याह्न-वेला है। यहां मित्रता की अनुभूति की स्मृति भी सम्पन्न हुई है। वर्तमान में अतीत का सामंजस्य कहीं-कहीं ही प्राप्त होता है।

पद्भ्यां विहारं विदधन् मुमुक्षुः,  
प्रासादमध्ये स्थितिमान् नरेशः ।  
यद् वायुयाने विदधच्च यात्रां,  
त्रिसंगमं पुण्यमिदं विभाति ॥२॥

आचार्यश्री मुमुक्षु हैं। वे भूमि का स्पर्श कर चलते हैं। नरेश प्रासाद में रहते हैं और तीसरे ये शुभकरणजी दसानी हैं, जो वायुयान से यात्रा करते हैं। इस प्रकार भूमि (आधार), मध्य और ऊर्ध्व—इन तीनों का यह संगम है।

(त्रिवेन्द्रम्—राजप्रासाद १८-३-६६)

## ३६ : समाधि

ध्यानयोगं समालंब्य,  
ब्रह्मानन्दोनुभूयते ।  
यस्य ध्यानपदं नास्ति,  
नानन्दस्तस्य जायते ॥१॥

ध्यान-योग के आलंबन से ब्रह्म के आनन्द का अनुभव प्राप्त होता है। जो ध्यान में आरूढ नहीं है, उसे आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती।

(७-४-६६ अलनूर में 'सिद्धाश्रम' के स्वामी निर्मलानन्दजी के गुरु ब्रह्मानन्दजी के समाधि-स्थल पर)

## ३७ : मैसूर राजप्रासाद

आचारवन्तः स्वयमुद्वहन्ति  
सदा प्रचारं प्रथयन्ति तस्य ।



आचारनिष्ठानऽपरान् सृजन्ति,  
आचार्यसंज्ञामुपयान्ति ते हि ॥१॥

जो स्वयं आचारवान् हैं, सदा आचार का प्रचार करते हैं और दूसरों को आचारवान् बनाते हैं, वे ही 'आचार्य' कहलाते हैं।

आचारनिष्ठा प्रबला यदा स्यात्,  
तदा मनुष्या इह सत्यनिष्ठाः ।  
आधारशून्यं न गृहं गृहं स्या-  
न्नाचारशून्यो मनुजोऽपि तद्वान् ॥२॥

जब आचार-निष्ठा प्रबल होती है तब मनुष्य सत्यनिष्ठ होते हैं। जिस प्रकार आधार-शून्य गृह गृह नहीं होता उसी प्रकार आचार-शून्य मनुष्य मनुष्य नहीं होता।

आचार्यवर्याश्च विराजमाना,  
यत्सम्मुखीनो नरनायकोऽपि ।  
स लौकिकश्चापि तथेतरोऽपि,  
संयोग एष प्रकृतः प्रकृष्टः ॥३॥

एक ओर आचार्य तुलसी विराजमान हैं और उनके सम्मुख महाराजा (मंसूर) बैठे हुए हैं। ये महाराजा लौकिक और आचार्य तुलसी पारलौकिक विद्याओं में निपुण हैं। यह एक उत्कृष्ट संयोग मिला है।

इतश्च संघो यमिनां विभाति,  
वनस्पतेः साक्ष्यमिदं च मध्ये ।  
स्वामी स्थितः सम्मुख एष पुण्यः,  
सर्वोऽपि योगः सहजोऽस्ति लब्धः ॥४॥

इधर साधु-साध्वियों का समूह है। बीच में फल-फूलों से भरे हुए थाल हैं।<sup>१</sup> सामने राजपुरोहित बैठे हुए हैं। यह सारा योग सहज रूप से प्राप्त हुआ है।

(२-५-६६ मंसूर राजप्रासाद)

१. मंसूर के महाराजा ने आचार्यश्री को भेंट देने के लिए फल-फूलों से भरे थाल वहां सजा रखे थे।

## ३८ : बाहुबली

शक्तिर्ध्वंक्ति याति बाहुद्वयेन,  
ज्ञानालोको मस्तकस्थो विभाति ।  
आलोकानां माध्यमं चक्षुरेतत्,  
मोहाऽभावो व्यज्यते पुंस्कचिन्हैः ॥१॥

मनुष्य अनन्त शक्ति का स्रोत है। उसकी मुख्य शक्तियां चार हैं—ज्ञान, दर्शन, वीर्य और पवित्रता। मनुष्य के शरीर में इन चारों शक्तियों की अभिव्यक्ति के चार स्थान हैं—

१. ज्ञान का स्थान है—मस्तक।
२. दर्शन का स्थान है—चक्षु।
३. वीर्य का स्थान है—बाहुद्वय।
४. पवित्रता का स्थान है—पुंस्कचिह्न।

शक्तिः समस्ता त्रिगुणात्मिकेयं,  
प्रत्यक्षभूता परिपीयतेऽत्र ।  
स्फूर्तिः स्वभावाः सकलाश्च भावाः,  
मूर्त्ति इहैवात्र विलोक्यमानाः ॥२॥

आज हम त्रिगुणात्मिका शक्ति—ज्ञान, दर्शन और पवित्रता का साक्षात् अनुभव करते हुए बाहुबली की इस विशालमूर्ति को आंखों से पी रहे हैं। यहां सारे स्वभाव और भाव स्फूर्त और मूर्त-हुए से लगते हैं।

स्वतंत्रतायाः प्रथमोस्ति दीपः,  
नतो न वा यत्स्खलितः क्वचिन्न ।  
त्यागस्य पुण्यः प्रथमः प्रदीपः,  
परंपराणां प्रथमा प्रवृत्तिः ॥३॥

महान् बाहुबली स्वतन्त्रता के प्रथम दीप थे। वे न तो कहीं झुके और न कहीं खलित हुए। त्याग के वे प्रथम प्रदीप और परम्परा-प्रवर्तक के अग्रणी थे।

समर्पणस्याद्यपदं विभाति,  
विसर्जनं मानपदे प्रतिष्ठम् ।

शैलेशशैलीं विदधत्स्वकार्ये,  
शैलेश एष प्रतिभाति मूर्त्तिः ॥४॥

महान् बाहुबली समर्पण के आद्य प्रवर्तक और विसर्जन के मानदंड थे। ये शैलेश बाहुबली पर्वतराज की सारी संपदा को स्वगत किए हुए आंखों के सामने खड़े हैं।

(१६-५-६६ श्रवणबेलगोल (मैसूर), बाहुबली की मूर्ति के समक्ष)

## ३६ : वाक्-संयम

पश्यामि साक्षाद् विषये विरोधं,  
करोमि किं वा किमिदं विचित्रम् ।  
वक्तुं प्रदत्तो विषयो ममाऽसौ,  
वाक्संयमस्याऽत्र महत्त्वमस्ति ॥१॥

मुझे आशुकविता में बोलने के लिए विषय दिया गया है—‘वाक्-संयम का महत्त्व’। मैं इस विषय में साक्षात् विरोध देख रहा हूँ। अब मैं क्या करूँ ?

वदाम्यहं तन्नहि वाग् यथा स्याद्,  
वदामि नाहं विषयस्य पूर्तिम् ।  
प्रायो विरोधे समुपस्थिते हि,  
मार्गो नवः स्याच्च पुरस्कृतोऽपि ॥२॥

यदि बोलता हूँ तो वाक्संयम नहीं रहता और यदि नहीं बोलता हूँ तो विषय की पूर्ति नहीं होती। प्रायः विरोध उपस्थित होने पर ही नया मार्ग निकल आता है।

आकाशमेतत् सकलं समग्रं,  
तत्रापि निर्माणमभूद् गृहाणाम् ।  
गृहं न चाकाशमपेतरन्न,  
तथैव वच्मीति न वापि वच्मि ॥३॥

यह सम्पूर्ण आकाश एक है, अखण्डित है, तो भी घरों का निर्माण हुआ है। घर न पूर्ण आकाश है और न आकाश से भिन्न है। उसी प्रकार मैं बोल भी रहा हूँ और नहीं भी बोल रहा हूँ।

आचार्यप्रोक्तं मुखवस्त्रिकेयं,  
वाक्संयमस्यास्ति प्रतीकमच्छम् ।  
उच्छृंखला वाग् बहुवर्ततेऽत्र,  
गामेऽपरण्येपि च संसदीह ॥४॥

आचार्यश्री ने कहा है—मुखवस्त्रिका वाक्संयम का प्रतीक है। गांव में, जंगल में और संसद में—सर्वत्र आज वाणी की उच्छृंखलता दीख रही है।

नात्मश्लाघा पंडितेनात्र कार्या,  
दोषा वाच्या नो परेषां कदाचित् ।  
एतत् स्पष्टं साम्प्रतं जायमानं,  
वैचित्र्यं तद् व्यत्ययो नाम जातः ॥५॥

अपनी प्रशंसा और दूसरों का दोषाख्यान पंडित व्यक्ति को नहीं करना चाहिए। लेकिन आज स्पष्टरूप से इसका व्यत्यय हो रहा है। यह आश्चर्य की बात है।

(२-५-७० गोपुरी में विनोबा भावे द्वारा प्रदत्त विषय)

## समस्यापूर्तिरूपम्



### १: समस्या—दुर्जया वत ! बलावलिप्तता

व्योम्नि कुंजररिपुर्घनाघन-  
गर्जनं किल निशम्य सत्वरम् ।  
जानुभङ्गमयते निरर्थकं,  
दुर्जया वत ! बलावलिप्तता ॥

आकाश में मेघ के गर्जन को सुनकर अष्टापद (हाथियों का शत्रु) तत्काल ही (मेघ को हाथी समझकर) ऊपर उछला और व्यर्थ ही उसने अपनी टांगें तोड़ लीं। यह सच है कि बल के गर्व को जीतना बहुत ही दुष्कर है।

(वि० सं० १६६८ पौष-राजलदेसर)

### २: समस्या—वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु

जलाशयानाममृतोपमं खलु,  
पिबन्ति नीरं न तृषातुरा अपि ।  
नभोम्बुपा वारिदवारिणा विना,  
वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु ॥

चातक प्यास से आकुल होने पर भी मेघ का पानी ही पीते हैं। वे कभी जलाशयों का अमृत-तुल्य जल भी नहीं पीते। यह सच है कि गुण प्रेम में रहते हैं, वस्तु में नहीं।

(वि० सं० १६६८ पौष—राजलदेसर)

### ३: समस्या—गीतं न गायतितरां युवतिर्निशासु

श्रोतुं विहाय शशिनं मम गानमेणो,  
भूमौ समेष्यति तदा स विधुर्निरङ्कः ।  
भूत्वा तुलिष्यति मुखेन ममेति भीत्या,  
गीतं न गायतितरां युवतिर्निशासु ॥

किसी ने पूछा कि युवती रात्रि में गीत क्यों नहीं गाती ? कवि ने कहा—  
एक बार युवती ने सोचा जब मैं गीत गाऊंगी तब चन्द्रमा में स्थित संगीतप्रिय  
हरिण मेरा गीत सुनने के लिए भूमि पर आ जाएगा और वह चन्द्रमा 'निरङ्क'  
(निष्कलंक) होकर अपने आपकी तुलना मेरे मुंह से करेगा। इसी विचार से  
युवती रात में गीत नहीं गाती।

(वि० सं० १९६८ पौष—राजलदेसर)

### ४: समस्या—न खलु न खलु वाच्यं सन्ति सन्तः कियन्तः

न खलु न खलु वाच्यं सन्ति सन्तः कियन्तो,  
भणितिरिति पुराणा शीघ्रगामी क्षणोऽयम् ।  
जगति विसृमरोऽभूत् संघ आणुव्रतोऽयं,  
भवतु तवकपृच्छा सन्त्यसन्तः कियन्तः ॥

अब ऐसा मत कहो कि सन्त कितने हैं ? यह कथन बहुत पुराना हो चुका  
है। आज का क्षण अत्यन्त शीघ्रगामी है। अणुव्रतसंघ (आन्दोलन) सार जगत् में  
फैल चुका है, अतः अब तुम यह पूछो कि इस दुनिया में असन्त कितने हैं, न कि  
सन्त कितने हैं।

(वि०सं० २०१० भाद्र—राणावास)

## ५ : समस्या—मूकोऽपि कोऽपि मनुजः किमु वाक्पटुः स्यात् ?

मूकोऽपि कोऽपि मनुजः किमु वाक्पटुः स्याद् ?  
विद्वद्पतेः कथमसम्भवकल्पना वा ।  
आत्मा विलोकित इतीह निजानुभूति-  
माचार्य आविरकरोन्मयि संप्रयुक्ताम् ॥

विद्वानों की यह कल्पना असम्भव नहीं है कि मूक मनुष्य भी वाक्पटु हो जाता है। मैं जब अपने आपको देखता हूँ तब लगता है कि मेरे में संजोई हुई अनुभूति को आचार्य ने व्यक्त कर यह सिद्ध कर दिया कि मूक भी व्यक्त—वाक्पटु हो सकता है।

## ६ : समस्या—दिशि प्रतीच्यां समुदेति भानुः

मृते धवे यद् विधवा भवित्री,  
पुराणमेतच्च युगे नवेस्मिन् ।  
त्यक्तः स्त्रिया स्यात्पतिरेव जीवन्,  
दिशि प्रतीच्यां समुदेति भानुः ॥

पति के मरने पर स्त्री विधवा हो जाती है, यह पुराने युग की बात है। आज के इस नये युग में जीवित पति भी स्त्री के द्वारा त्यक्त हो जाता है। इसीलिए आज सूर्य पश्चिम दिशा में उदित हो रहा है।

(उज्जैन, वि० सं० २०१२, संस्कृत सम्मेलन)

## ७ : समस्या—मशकदशनमध्ये हस्तिनः सञ्चरन्ति

नृपतिरपि जनः स्यात्प्राकृतो मार्गचारी,  
क्वचिदपि न पुराणैः कल्पना चाप्यकारि ।  
भवति जगति नेता साम्प्रतं नाम निःस्वः,  
मशकदशनमध्ये हस्तिनः सञ्चरन्ति ॥

राजा भी मार्ग पर चलने वाला सामान्य जन हो सकता है, ऐसी कल्पना किसी प्राचीन कवि ने नहीं की। आज संसार में नेता वही है, जो निर्धन होता है। कवि ने उचित ही कहा है कि मच्छर के दांतों के बीच से हाथी गुजर रहे हैं।

(उज्जैन, वि० सं० २०१२, संस्कृत सम्मेलन)

## ८ : समस्या—कालीकज्जलशोणिमा धवलयत्यर्धं नभोमण्डलम्

कालीकज्जलशोणिमा धवलयत्यर्धं नभोमण्डलं,  
दुष्टः कोपि सुविद्यया धवलितो जातो मनाक् सन्मना ।  
दुष्टान् मानसिकान्निजान् प्रतिपलं भावान् विहातुं यतः,  
दुष्टत्वं विगलन्न वा सुजनता यद् व्याप्यमाना ध्रुवम् ॥

कोई दुष्ट व्यक्ति सुविद्या से धवलित होकर कुछ उत्तम मन वाला हो गया। उसने अपने दुष्ट मानसिक भावों को छोड़ने का प्रयत्न किया। उसका दुष्टत्व विगलित हो रहा है और नई सुजनता उसमें व्याप्त हो रही है। ऐसा लग रहा है मानो काली की कजरारी अरुणिमा आधे नभ-मंडल को धवलित कर रही है।

(उज्जैन, वि० सं० २०१२, संस्कृत सम्मेलन)



## ६ : समस्या—सभामध्ये न कोकिला

न वसन्तो न चाम्राणि,  
न चैवेयं वनस्थली ।  
किं चित्रं यदि वा विद्वन् !,  
सभामध्ये न कोकिला ॥

न वसन्त ऋतु है, न आम्रफल और न यह वनस्थली है। विद्वन् ! यदि इस सभा में कोयल न हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

(विक्रम सं० २०१२ पौष कृ० १०, रतलाम—संस्कृत साहित्य सम्मेलन)

## १० : समस्या—चित्रं दिवापि रजनी रजनी दिवा च

यस्मात् प्रकाशकिरणः प्रसभं प्रथन्तेऽ-  
प्यन्धत्वमेति नयनञ्च तमीक्षमाणम् ।  
ज्योतिर्नवं स्फुरति संतमसे प्रगाढे,  
चित्रं दिवापि रजनी रजनी दिवा च ॥१॥

जिस सूर्य से प्रकाश-किरणों विकीर्ण होती हैं, उसको देखने वाली आंख चुंधिया जाती है। सघन अन्धकार में नई ज्योति प्रकट होती है। विचित्र है—दिन में रात और रात में दिन हो रहा है।

आलोक एष लषते जडपात्रचारी,  
धूमोदयो भवति तेजसि दीप्यमाने ।  
पुत्रः सुधीर्जनयिता च जडोन्यथा पि,  
चित्रं दिवापि रजनी रजनी दिवा च ॥२॥

यह प्रकाश मिट्टी के दीप में रहने वाला है। जब इसका तेज दीप्त होता है तब धुआं निकलने लग जाता है। कहीं पुत्र विद्वान् है तो पिता मूर्ख और कहीं पिता विद्वान् है तो पुत्र मूर्ख। विचित्र है, विचित्र है—दिन में रात और रात में दिन हो रहा है।

नैकात्मता भवति काचन भद्रतायां,  
विद्युद् विमन्थररुचिर्दिवसे विभाति !  
सैव प्रकाशमतुलं तनुते निशायां,  
चित्रं दिवापि रजनी रजनी दिवा च ॥३॥

भद्रता में कोई एकात्मकता नहीं होती। दिन में विद्युत् का प्रकाश मंद हो जाता है और वही प्रकाश रात में अत्यन्त तीव्र हो जाता है। विचित्र है—दिन में रात और रात में दिन हो रहा है।

कृष्णापि कापि किल दृष्टिरियञ्च तारा,  
श्वेतोन्धलो भवति यन्नयनस्य भागः ।  
काष्ण्ये प्रकाशपटुता तिमिरं वलक्षे,  
चित्रं दिवापि रजनी रजनी दिवा च ॥४॥

आंखों का यह काला तारा देख सकता है और आंख का श्वेत भाग अंधा होता है, देख नहीं सकता। काले में प्रकाश की पटुता है और सफेदी में अंधकार है। विचित्र है—दिन में रात और रात में दिन हो रहा है।

(स्तलाम—वि० सं० २०१२ पौष कृ० ६)

### ११ : समस्या—कर्दन्त्यमी मानवाः

प्राणो नृत्यति विश्वगः प्रतिपलं सर्वान् जनान् जीवयन्,  
नीतेर्भ्रंश इहाजनिष्ट सततं सोप्यस्ति निष्प्राणितः ।  
वायुर्नृत्यति साम्प्रतं च गगने सर्वास्वस्थास्वपि,  
निष्प्राणा भुवने भवन्ति सकलाः कर्दन्त्यमी मानवाः ॥

यह विश्वव्यापी प्राण सब जनों को जीवन देता हुआ नृत्य करता है। किन्तु आज नीति का विनाश हो गया, इसलिए वह प्राण भी निष्प्राण हो गया। अब सब अवस्थाओं में इस नील गगन में केवल वायु नृत्य कर रही है। प्राण चला गया, केवल वायु रह गई है। जब विश्व में सब प्रदार्थ निष्प्राण हो जाते हैं, तब मनुष्य केहुनी को बजाया करते हैं।

(वि० सं० २०१५ मृग० शु० ११-१२ बनारस संस्कृत महाविद्यालय)

## १२ : समस्या—सरस्यामालस्यादिव पतति पाटीरपवनः

श्रमो विश्रामार्थी भवति यदिदानीं प्रतिजनं,  
जनाः सर्वे खर्वं निदधतितमां गर्वमतुलम् ।  
इयं वृत्तिः प्रादुर्भवति यदि वा चेतनजने,  
सरस्यामालस्यादिव पतति पाटीरपवनः ॥

आज श्रम मानो प्रत्येक मनुष्य में प्रविष्ट होकर विश्राम करने की बात सोच रहा है। सब मनुष्य निकृष्ट कोटि का अतुलनीय गर्व कर रहे हैं। यदि चैतन्यमय मनुष्यों में इस प्रकार की वृत्ति प्रकट हो रही है तो कहना होगा कि चन्दनवन का पवन सरोवर में अलसाया हुआ-सा सुस्ता रहा है।

(वि० सं० २०१५ मृग० शु० ११-१२ बनारस संस्कृत महाविद्यालय)

## १३ : समस्या—न रजनी न दिवा न दिवाकरः

स्पृशति दृष्टिरियञ्च बहिर्जग-  
त्तिमिरमस्ति तथेतरदस्ति च ।  
स्पृशति दृष्टिरियं जगदान्तरं,  
न रजनी न दिवा न दिवाकरः ॥

जब यह दृष्टि बहिर्जगत् का स्पर्श करती है तब उसे अंधकार और प्रकाश—  
दोनों मिलते हैं। किन्तु जब वह अन्तर्जगत् का स्पर्श करती है तब वहाँ न रात है,  
न दिन है और न सूर्य।

(वि० सं० २०१५ मृ० शु० ११-१२ बनारस संस्कृत महाविद्यालय)

## १४ : समस्या—महाजनो येन गतः स पन्थाः :

जनो जनो येन गतः स पन्थाः,  
भवेदिदं शाश्वतमस्ति सत्यम् ।  
तथापि लोकैः विपरीतमुक्तं,  
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥१॥

जन-जन जिस मार्ग से गया है, वही पथ है—यह शाश्वत सत्य है । फिर भी लोगों ने इसके विपरीत कहा है—‘महाजन जिससे गया है, वही पथ है ।’

महाजनो येन गतः स पन्थाः,  
पुराणमुक्तं खलु लभ्यतेऽद्य ।  
नवीनमुक्तं भविताद्य भव्यं,  
राज्यं श्रितो येन गतः स पन्थाः ॥२॥

‘महाजन जिससे गया है, वही मार्ग है’—यह प्राचीन उक्ति है । आज की नवीन बात यह होनी चाहिए कि सत्तारूढ़ व्यक्ति जिस मार्ग से गया है, वही मार्ग है ।

(मद्रास संस्कृत कॉलेज—१७-११-६८)

## १५ : समस्या—अस्ति स्तः सन्ति कल्पनाः

सदा मे चंचलं चित्तं,  
चांचल्यं नानुभूयते ।  
यदा ध्यानस्थितोऽहं स्यां,  
अस्ति स्तः सन्ति कल्पनाः ॥

जब मेरा चित्त चंचल होता है तब मुझे चंचलता की अनुभूति नहीं होती । जब मैं ध्यान-स्थित होता हूँ तब एक-दो-दस—सभी कल्पनाएं आने लगती हैं ।

(मद्रास संस्कृत कॉलेज—१७-११-६८)

## १६ : समस्या—चन्द्रोदये रोदिति चक्रवाकी

भाग्योदयो भिन्नपदो विभाति,  
सर्वत्र साम्यं न हि तेन दृष्टम् ।  
दृष्ट्वेन्दुमुत्साहपरोऽपरः स्यात्,  
चन्द्रोदये रोदिति चक्रवाकी ॥

सबका भाग्योदय एक-सा नहीं होता। उसमें विचित्रताएं होती हैं। चन्द्रमा को देखकर कोई प्रसन्न होता है किन्तु चक्रवाकी उसको देखकर रोने लग जाता है।

(बृहद् संस्कृत सम्मेलन, गंगाशहर २६-१२-७१)

## १७ : समस्या—कथं भवेद् नो जठराग्निशान्तिः

यस्यास्ति तृष्णा सुतरां विशाला,  
स एव मां पृच्छति प्रश्नमेनम् ।  
चित्रं ततः स्यादधिकं किमत्र,  
कथं भवेद् नो जठराग्निशान्तिः ॥

जिस मनुष्य की तृष्णा बढ़ी हुई है, वही मुझे यह प्रश्न पूछ रहा है कि पेट की भाग कैसे बुझे। इससे अधिक विस्मय और क्या होगा ?

(बृहद् संस्कृत सम्मेलन, गंगाशहर २६-१२-७१)



तृतीयो विभागः

**समस्यापूर्तिः**





## १ : समस्या—मणे ! भावी तूर्णं पुनरपि तवातुच्छमहिमा

भुजंगानां शीर्षे निवसति च यद्यप्यनुदिनं,  
तथापि त्वं तेषां गरलमतुलं लोप्तुमगदम् ।  
स्वकीये नौचित्ये स्फुरति न हि रागो ध्रुवमतौ,  
मणे ! भावी तूर्णं पुनरपि तवातुच्छमहिमा ॥१॥

हे मणे ! तुम रात-दिन सर्प के मस्तक में निवास करती हो, फिर भी तुम उसके घोर विष को नष्ट करने के लिए औषध हो। अपने अनौचित्य (सर्पदंश द्वारा प्रयुक्त विष) के प्रति भी तुम्हारा पक्षपात नहीं है। इसीलिए हे मणे ! तुम्हारी पुनः अतुल महिमा होगी।

महामूल्यं रत्नं कथमपि च निन्ये जडमति-  
रजानंस्तत्कान्ति वत ! विपदमापद्य चरति ।  
गृहीत्वा तत्कश्चित् कुशलमतिरेवं द्रुतमवक्,  
मणे ! भावी तूर्णं पुनरपि तवातुच्छमहिमा ॥२॥

एक बार महामूल्य रत्न किसी मूर्ख के हाथ लग गया। वह उसकी कान्ति को नहीं जानता हुआ दुःखावस्था में घूम रहा था। एक कुशलमति वाले व्यक्ति ने उसी रत्न को प्राप्त कर कहा—मणे ! अब तुम्हारी पुनः अतुल महिमा होने वाली है।

(वि० सं० १९६८ पौष—राजलदेसर)

## २ : समस्या—किं तया किं तया किं तया किं तया ?

स्वीकृता साधुता भूरि शिक्षा श्रिता,  
विप्लुतिः प्रोज्झिता संयता वाक् परम् ।  
यावदाध्यात्मिकं ज्ञानमायाति न,  
किं तया किं तया किं तया किं तया ? ॥१॥

१४० अतुला तुला

साधुता को स्वीकार किया, विपुल ज्ञान प्राप्त किया, चंचलता को छोड़ा और वाणी को संयत बनाया, किन्तु जब तक आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक साधुता प्राप्त करने से क्या ? विपुल ज्ञान प्राप्त करने से क्या ? चंचलता को छोड़ने से क्या ? और वाणी को संयत बनाने से क्या ?

अम्बरे           स्थायिकोत्पत्तिरम्भोनिधौ,  
धिष्ण्यकाच्छादिनी   शक्तिरुध्वंगतिः ।  
चेज्जलं दास्यते नो त्वया वारिद !,  
किं तया किं तया किं तया किं तया ? ॥२॥

हे मेघ ! तुम अम्बर में रहते हो । तुम्हारी उत्पत्ति समुद्र से हुई है । तुम्हारे सूर्य को ढंकने की शक्ति है । तुम ऊंची गति करने वाले हो । इतना होने पर भी यदि तुम नहीं बरसते, तो अम्बर में रहने से क्या ? समुद्र से उत्पन्न होने से क्या ? सूर्य को ढंकने की शक्ति से क्या ? और ऊंची गति करने से क्या ?

(वि० सं० १९६८ पौष—राजलदेसर)

३ : समस्या—कथं कान्ते दान्ते गलितवदनाभा नववधूः ?

वसन्ते साम्राज्यं कलयति कलावत्यनुपदं,  
यदुच्छ्वासा गुच्छा मधुररसलीलार्पणपराः ।  
तरो! त्वय्येतादृक् फलवति जने चापि कलिका,  
कथं कान्ते दान्ते गलितवदनाभा नववधूः ? ॥१॥

कलावान् वसन्त पग-पग पर अपना साम्राज्य डाले हुए है । चारों ओर मधुर रस की लीला में अपित उच्छ्वास उछल रहे हैं । हे वृक्ष ! तुम्हारे जैसे फलवान्, कान्त और दान्त पदार्थ के प्रति भी यह कलिका रूपी नववधू म्लानमुख क्यों हो रही है ?

प्रतीचीं नाप्नोति प्रणयसविताऽस्मन्निलयगो,  
न चेष्ट्याप्रालेयं पतति सुमतिच्छन्नवसतौ ।

व्युदास्याब्जच्छायामुपांमातपटु व्यथकमसो,  
कथं कान्ते दान्ते गलितवदनाभा नववधूः ? २॥

पति ने ऐसा सोचा कि हमारे घर में निवास करने वाला प्रेम-सूर्य कभी अस्त नहीं होता और सुमति से आच्छन्न इस वसति में ईर्ष्या का हिम कभी नहीं गिरता। उपमा पटु कमल की कान्ति को छोड़कर यह नववधू अपने दांत और कांत प्रियतम के प्रति व्यर्थ ही म्लानमुख क्यों हो रही है ?

रसः शान्तो यस्य स्पृशति हृदयाम्भोजकलिकां,  
न कामानाशंसेत् क्वचिदपि न चेतश्चपलयेत् ।  
न तस्यैतत्तत्त्वं भवति खलु शोध्यं कथमपि,  
कथं कान्ते दान्ते गलितवदनाभा नववधूः ? ॥३॥

जिस व्यक्ति के हृदय-कमल की कलिका को शान्त रस स्पृष्ट करता है, जो कामनाओं की आशंसा नहीं करता और जिसका मन चपल नहीं है, ऐसे व्यक्ति के लिए यह तथ्य अन्वेषणीय नहीं होता कि नववधू अपने दांत और कान्त प्रियतम के प्रति म्लान-मुख क्यों हो रही है ?

(वि० सं० २००३ पौष शुक्ला ३ तारानगर)

४ : समस्या—कथं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधर ?

नदीं पत्युर्वेश्म प्रणयति रणन्नूपुररवां,  
क्षितेर्दूर्वाशाटीं रचयति लसन्मौक्तिककणाम् ।  
तथाप्येवं शून्याश्रय इव ददज्जीवनमपि,  
कथं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः ? ॥१॥

मेघ कल-कल करती हुई नदी को समुद्र की ओर प्रेरित करता है और मुक्ताकण की आभावाली दूर्वा की शाटी से सारी पृथ्वी को सज्जित करता है। वह सबको जीवन देता है, फिर भी वह आश्रय-विहीन व्यक्ति की भांति नवीन नीली आभा वाला मेघ धीरे-धीरे क्यों गर्ज रहा है ?

तपाक्रान्ता नद्यः शिथिलनिनदाश्चातककुलं,  
 तृषाक्लेशान् मन्दं रटति सुवदानाब्दमुहृदः ।  
 भवेच्चेत्तद् युक्तं परमुदकपूर्णोदरदरिः  
 कथं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः ? ॥२॥

आतप से आक्रान्त सरिताओं की कलध्वनि शिथिल हो रही है, तृषा से आकुल चातक कुछ मन्द-मन्द बोल रहा है। मयूर की केका कुंठित हो रही है। यह सब समझ में आनेवाला है। परन्तु जल से लबालब भरा हुआ यह नवीन नीली आभा वाला मेघ धीरे-धीरे क्यों गर्ज रहा है ?

कथं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः ?  
 न विद्यात् ग्रीष्मो मामिति कलनया साम्प्रतमहो ।  
 स्फुरद्विद्युद्दीप्रं वियति विहरन्तं स्फुटममुं,  
 स दृष्ट्वा तत्कालं विरहिहृदयं त्राणमनयत् ॥३॥

ओह ! नवीन नीली आभा वाला मेघ अब धीरे-धीरे गर्जन कर रहा है। कहीं उसे ग्रीष्म जान न ले। किन्तु वह स्वयं चमचमाती बिजली से दीप्त है, बहुते ऊपर आकाश में चल रहा है—ऐसी स्थिति में वह अपने आपको कैसे छिपा सकता है ? ग्रीष्म ने उसे स्पष्ट देखा और अपने प्राण बचाने के लिए तत्काल वह विरही व्यक्ति के हृदय में जा बैठा।

अरे ! क्वासि क्वासि प्रकटय तनुं वारिदवर !,  
 सदा स्फारैर्जातं कृषिनयनमित्थं सलिलमुक् !  
 किमेतन्नो ज्ञातं तव विशदवृत्तेर्मरुरयं,  
 कथं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः ? ॥४॥

मेघ ! तुम कहां हो, तुम कहां हो ? तुम अपने आपको प्रकट करो। इस प्रकार तुम्हारी प्रतीक्षा में कृषक की खुली आंखें जल बहाने लग गईं। क्या तुम्हारे जैसे निर्मल वृत्तिवाले को इतना भी पता नहीं है कि यह मरुस्थल है ? फिर क्यों यह नवीन नीली आभा वाला मेघ धीरे-धीरे गर्जन कर रहा है ?

अहो ! शून्ये लब्धुं तत इत इवौज्ज्वल्यपदवीं,  
 कथं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः ?

समेषामालिन्यं व्यपनयननैपुण्यमहितो,  
महामान्यो मह्यां लषति तुलसीराममुनिपः ॥५॥

अहो ! नवीन नीली आभावाला यह मेघ शून्य में उज्ज्वल स्थान को पाने के लिए इधर-उधर घूमता हुआ मन्द-मन्द ध्वनि कर रहा है। क्योंकि वह जानता है कि सभी प्राणियों की मलिनता को दूर करने में निपुण और जनता द्वारा पूजित, महामान्य आचार्य तुलसी इस पृथ्वी पर रह रहे हैं।

(वि० सं० २००३ पौष शुक्ला ३ तारानगर)

### ५ : समस्या—मोदन्ते मुनयो मनोबलजुषः कष्टेष्वनेकेष्वपि

आसक्तिः स्वपदानवस्थितिभयान्नासक्तिमालिगति,  
शैथिल्यं शिथिलं मनश्चपलता जाता स्वयं चञ्चला।  
क्रोधः क्रुद्ध इवावलिप्त इव वा मानो न यान् मानयेद्,  
मोदन्ते मुनयो मनोबलजुषः कष्टेष्वनेकेष्वपि ॥१॥

आसक्ति स्वयं अपनी अवस्थिति के डांवाडोल होने के भय से जिनमें आसक्त नहीं होती, जिनके पास पहुंचकर शैथिल्य स्वयं शिथिल हो जाता है, मन की चपलता स्वयं चंचल हो जाती है, और क्रोध क्रुद्ध तथा मान स्वयं गवित होकर जिन्हें सम्मान नहीं देता, ऐसे मनोबली मुनि अनेक कष्टों के आ जाने पर भी प्रसन्न रहते हैं।

स्वातन्त्र्यं गुरुशासनं गुरुतरं शक्तिस्तपः प्रोक्त-  
मौदासीन्यपरंपरासुखमहो चेतोवरोधो जयः।  
किं चित्रं सकलेपि कर्मणि जनादेवं कृतव्यत्यया,  
मोदन्ते मुनयो मनोबलजुषः कष्टेष्वनेकेष्वपि ॥२॥

मनोबली मुनि अनेक कष्टों के आने पर भी प्रसन्न रहते हैं क्योंकि उनका आचरण जनसाधारण से विपरीत होता है। वे गुरु के अनुशासन को स्वतन्त्रता, प्रकृष्ट तपस्या को शक्ति, औदासीन्य परम्परा (अनासक्ति) को सुख और अपने मन के विरोध को विजय मानते हैं।

कष्टानां प्रतिपत्तिरस्त्यविकला ज्ञानं यथार्थं पुन-  
मोदन्ते मुनयो मनोबलजुषः कष्टेष्वनेकेष्वपि ।  
तत्त्वज्ञानमतत्त्वतः किमु न तान् कुर्वीत मिथ्यात्वनोऽ-  
तत्त्वे तत्त्वमतिर्यदुक्तमिह चेद् मिथ्यात्वगं लक्षणम् ॥३॥

मुनि-जीवन में कष्ट आते हैं। उनका उन्हें सही ज्ञान भी होता है। फिर भी वे मनोबली मुनि अनेक कष्टों के आने पर प्रसन्न रहते हैं। यदि वे आने वाले कष्टों को कष्ट न मानें तो क्या अतत्त्व से उत्पन्न उनका तत्त्वज्ञान उन्हें मिथ्यात्वी नहीं बना देता? क्योंकि सिद्धान्त की भाषा में कहा जाता है कि अतत्त्व में तत्त्व की बुद्धि मिथ्यात्व का लक्षण है।

मोदे कष्टविधायिनो विमतयो जीवन्ति नैके जनाः,  
सूर्यश्चन्द्रमसं रविं हिमकरः किं वान्यथाऽनुव्रजेत् ।  
चित्रं चित्रमिदं परार्थकुशलाः कष्टेपि मोदप्रदाः,  
मोदन्ते मुनयो मनोबलजुषः कष्टेष्वनेकेष्वपि ॥४॥

सुख में दुःख उत्पन्न करने वाले विपरीत मति वाले व्यक्ति एक नहीं, अनेक हैं। अन्यथा सूर्य चन्द्रमा का और चन्द्रमा सूर्य का पीछा क्यों करता? यह आश्चर्य है कि परोपकार करने में निपुण और दुःख में सुख देने वाले मनोबली मुनि अनेक कष्टों के आने पर भी प्रसन्न रहते हैं।

मोदन्ते मुनयो मनोबलजुषः कष्टेष्वनेकेष्वपि,  
बुध्वाहं छिदितापताडनविधौ प्रापं तितिक्षां पराम् ।  
अज्ञास्यं यदि वा शिलाशकलतो नूनं परीक्षा मम,  
गुंजाभिः सह तोलनं च भविताऽध्रक्ष्यं कृशानौ निजम् ॥५॥

स्वर्ण ने कहा—मनोबली मुनि अनेक कष्टों के आने पर भी प्रसन्न रहते हैं—यह जानकर छेदन, तापन और ताडन की विधि से गुजरते हुए भी मैंने परम तितिक्षा रखी। यदि मुझे यह ज्ञात होता कि शिला के टुकड़े पर मेरी परीक्षा होगी और गुंजाओं के साथ मुझे तोला जाएगा तो मैं उसी समय अग्नि में गिरकर अपने को जला डालता।

(वि० सं० २००४ पौष शुक्ला ४ सुजानगढ़)

## ६ : समस्या—गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम्

हिमांशोः खल्वेषा किमिव हरिणे प्रीतिरुचिता,  
तमस्विन्या सार्धं विहरणमपि प्राप्तकलुषम् ।  
रविः स्वं क्रूरत्वं त्यजति बत ! नाप्यत्र कुपितो,

गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम् ॥१॥

सूर्य ने सोचा—क्या चन्द्रमा की हिरण के साथ यह प्रीति उचित है ? उसका रात्री के साथ घूमना भी कलुषित है । यह सोचकर सूर्य कुपित हो गया किन्तु वह अपनी क्रूरता को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ । यह सच है कि पर्वत पर लगी आग दीखती है, पर पैरों के तलों में लगी आग नहीं दीखती ।

अहो ! शून्यप्रेमी प्रकृतिचपलः श्यामलतनु-  
स्तडित्पाती याञ्चापटुरपि घनोऽस्थायिविभवः ।  
भुवस्तापं पापं मनसि विनिवेश्य स्तनति यद्,  
गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम् ॥२॥

आश्चर्य है कि बादल शून्य-प्रेमी है । वह प्रकृति से चपल है । उसका शरीर काला है । वह बिजली को गिराता है । वह याचना करने में निपुण है । उसकी सारी संपदा अस्थिर है । वह पृथ्वी के एकमात्र दोष—ताप को ध्यान में लाकर गर्ज रहा है । यह सच है कि पर्वत पर लगी आग दीखती है, पर पैरों के तलों में लगी आग नहीं दीखती ।

कियल्लोलं चेतः कियदथ चलं शाखिकिसलं,  
स्थिरो नायं वातस्त्विति चपलवीक्षेऽङ्गघटिके !  
चिरं मा स्याः कालो विहरति कुहासौ तव पिता,  
गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम् ॥३॥

घटिका ने कहा—‘यह चित्त कितना चंचल है । सामने खड़े वृक्ष का यह पत्ता चंचल है । यह वायु भी स्थिर नहीं है’—इस प्रकार दूसरों की चंचलता की चर्चा में लीन घड़ी की सूई अटक गई । तब कवि ने कहा—ओ ! दूसरों की चपलता देखने वाली घड़ी ! तुम एक स्थान पर मत रुको । देखो, तुम्हारा पिता काल कितनी चपल गति से चला जा रहा है । यह सच है कि पर्वत पर लगी आग दीखती है, परन्तु पैरों के तलों में लगी आग नहीं दीखती ।

अदृश्ये दृश्यत्वं स्फुरति न च चित्रं तदिदं,  
न वा सूक्ष्मस्याणोर्नयनविषयत्वं प्रति यते ।  
परं दृश्येऽप्यन्धः क्वचनचतुरो दृष्टिविसरो,  
गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम् ॥४॥

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि अदृश्य में भी दृश्य की स्फुरणा होती है । इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं कि सूक्ष्म अणु को दृष्टिगोचर करने का मैं प्रयत्न नहीं करता हूँ । पर कहीं-कहीं दृश्य विषय में भी यह दृष्टि का चतुर विस्तार अन्धा हो जाता है । यह सच है कि पर्वत पर लगी आग दीखती है परन्तु पैरों के तलों में लगी आग नहीं दीखती ।

अहो ! ज्योतिस्तापं नयति बत मामित्यतिलपन्,  
जलं नात्मस्थानं परवशगतं पश्यतितमाम् ।  
किमग्नेर्विध्यातुर्भवतु गतिरेषा परमिह,  
गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम् ॥५॥

एक बार पानी ने कहा—देखो, आग मुझे तपा रही है । ऐसे कहते हुए पानी ने यह नहीं देखा कि वह स्वयं अभी परवश है, अर्थात् पात्रगत है । क्या अग्नि को बुझाने वाले पानी की यह दशा हो सकती है ? यह सच है कि पर्वत पर लगी आग दीखती है परन्तु पैरों के तलों में लगी आग नहीं दीखती ।

गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितं,  
यदुद्योगादीर्यारतगतिमुनीनां समभवत् ।  
महामान्यः सश्रीतुलसीमुनिराजः प्रथयतु,  
स्वशिष्यान्निःशेषान् गुणगणसमादाननिपुणान् ॥६॥

ईर्या समिति में रत मुनियों ने प्रयत्न किया और यह जान लिया कि पैरों में लगी आग दीख पड़ती है किन्तु पर्वत पर लगी आग नहीं दीखती । महामान्य तुलसी अपने सभी शिष्यों को गुण-ग्रहण करने में निपुण बनाएँ ।

खल ! त्वं किं चूर्णप्रवण इति पृष्टस्त्रिफलया,  
कठोरा रूक्षासि प्रकृतिसदृशोप्येवमवदत् ।  
अहो ! सत्यं सत्यं कविकुलकिरीटैरभिहितं,  
गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम् ॥७॥



त्रिफला ने खरल से कहा—अरे ! तुम चूर्ण बनाने में इतनी निपुण क्यों हो ? इसके उत्तर में त्रिफला की समान प्रकृति वाले खरल ने कहा—तुम कठोर और रूक्ष हो इसलिए मैं ऐसा करता हूँ । त्रिफला ने कहा—अहो ! कवियों ने जो कहा वह सच है कि पर्वत पर लगी आग दीखती है पर पौधों के तलों में लगी आग नहीं दीखती । (तुम अपने आपको देखो, कितने कठोर और रूक्ष हो ।)

(वि० सं० २००४ पौष शुक्ला ४, सुजानगढ़)

### ७ : समस्या—सिन्दूरबिन्दुविधवाललाटे

सिन्दूरबिन्दुविधवाललाटे,  
गंगाम्बुगौरे कृतविद्रुमेर्ष्यः ।  
स्वं रक्तिमानं नयने मुखेपि,  
द्रष्टुः स्मयः किं प्रतिबिम्बयेत्तत् ॥१॥

गंगा के पानी की तरह गौर विधवा के ललाट पर मूंगे से भी अधिक लाल सिन्दूर का बिन्दु है । उस बिन्दु ने अपनी रक्तिमा, देखने वाले के नयन और मुख में, प्रतिबिम्बित कर दी हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अर्थात् विधवा के ललाट पर सिन्दूर का बिन्दु देखकर कोई क्रोध से लाल-पीला हो जाए—इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

सिन्दूरबिन्दुविधवाललाटे,  
नेयं समस्याप्यधुना समस्या ।  
वैज्ञानिकेस्मिन् समये न जाने,  
वैधव्यमेवापि पलायितं क्व ॥२॥

विधवा के ललाट पर सिन्दूर की बिन्दु है—यह समस्या आज समस्या नहीं है । क्योंकि इस वैज्ञानिक युग में न जाने वैधव्य कहां पलायन कर चुका है !

यादृग् विचारो मनसांकितः स्या-  
त्तादृग् जनः पश्यति चक्षुषापि ।

सिन्दूरबिन्दुविधवाललाटे,  
प्रत्यक्षमत्र प्रबलं प्रमाणम् ॥३॥

मन में जैसा विचार अंकित होता है, आंखों से मनुष्य वैसा ही देखता है । इसका प्रत्यक्ष और प्रबल प्रमाण है—विधवा के ललाट पर लगा हुआ सिन्दूर का लाल बिन्दु ।

पत्युवियोगाश्रुसरित्प्रवाह-  
प्रक्षालिते वर्ष्मणि नैकशोऽपि ।  
स्वेदोदबिन्दुद्रविते क्व कल्प्यः,  
सिन्दूरबिन्दुविधवाललाटे ॥४॥

पति के वियोग के कारण पत्नी की आंखों से आंसुओं की नदी बह रही है । अनेक बार उसके प्रवाह से सारा शरीर प्रक्षालित हो रहा है और पसीने की बूंदों से भी वह द्रवित हुआ है । ऐसी स्थिति में यह कल्पना कैसे की जा सकती है कि विधवा के ललाट पर सिन्दूर का बिन्दु है ?

सिन्दूरबिन्दुविधवाललाटे,  
न केन साक्षेपमपेक्षितोस्ति ?  
भाले स्वकेऽन्यायविजृम्भबिन्दु-  
न केन साक्षेपमुपेक्षितोस्ति ? ॥५॥

विधवा के ललाट पर सिन्दूर का बिन्दु है—इसको आक्षेप-सहित किसने नहीं देखा ? अपने स्वयं के ललाट पर अन्याय का बिन्दु विकसित हो रहा है, फिर भी किस व्यक्ति ने आक्षेपपूर्वक इसकी उपेक्षा नहीं की ?

[वि० सं० २००५ कार्तिक कृष्णा ७, छापर]

## ८ : समस्या—मेघे वर्षति वेगवाहिनि कथं दौर्भिक्ष्यसंभावना?

मेघे वर्षति वेगवाहिनि कथं दौर्भिक्ष्यसंभावना ?  
कुब्जो दातृकरः स्वदक्षिणपथे शक्तिं न चालोकयन् ।  
वामे शक्तिरवातरत् परमसौ वामश्चरेत्तत्कथं,  
द्वन्द्वं पाणिगतं प्रसारमनयद् बुद्धावपि प्रायशः ॥१॥

वेगवान् मेघ के बरसने पर दुर्भिक्ष की सम्भावना कैसे हो सकती है ? अपने दक्षिण मार्ग को शक्तिहीन होता देखकर दान देने वाला हाथ कुब्ज हो गया । सारी शक्ति वाम मार्ग में अवतीर्ण हो गई, पर बायां हाथ दान कैसे दे सकता है ? हाथों का यह द्वन्द्व प्रायः मनुष्यों की बुद्धि में भी समा गया है । इसलिए वेगवान् मेघ के होने पर भी दुर्भिक्ष सम्भव हो रहा है ।

मेघे वर्षति वेगवाहिनि कथं दौर्भिक्ष्यसंभावना ?  
मर्यादाक्रमणं कृतं जलमुचा कूलंकषाभिस्तथा ।  
दृष्ट्वैतां स्वपितुः क्रियामनुचितां धान्यैश्च लज्जानतै-  
रात्मानो जहिरे ततः कथमसौ प्रश्नो घटां प्राञ्चति ? ॥२॥

वेगवान् मेघ के बरसने पर दुर्भिक्ष की सम्भावना कैसे हो सकती है ? किन्तु जब बादल ने बरसने में मर्यादा का अतिक्रमण किया तो नदियों में बाढ़ आ गई और तब उन्होंने भी मर्यादा का उल्लंघन कर डाला । उगे हुए धान्यों ने अपने पिता-माता (बादल और नदी) का यह अनुचित कार्य देखा । तब लज्जा से नत होकर उन्होंने अपने आप का त्याग कर दिया, वे नष्ट हो गए । इसलिए यह प्रश्न कि मेघ के बरसने पर दुर्भिक्ष नहीं होता, उचित नहीं है ।

मेघे वर्षति वेगवाहिनि कथं दौर्भिक्ष्यसंभावना ?  
ज्ञातं नेत्यपि किं प्रणालिरियकं पूर्णा प्रजातंत्रिणी ।  
भूवातातपनादयः परिषदः सर्वे सदस्या अमी,  
दास्यन्ते किल काञ्च सम्मतिमिदं तत्त्वं न विद्मो वयम् ॥३॥

वेगवान् मेघ के बरसने पर दुर्भिक्ष की सम्भावना कैसे हो सकती है ? किन्तु क्या तुमने यह नहीं जाना कि (दुर्भिक्ष होना या सुभिक्ष होना) यह सारा पूर्ण प्रजातंत्र प्रणाली पर आधारित है । इस प्रजातंत्र परिषद् के सदस्य हैं—भूमि,

वायु और आतप । ये अपना मत किसको (सुभिक्ष को या दुःभिक्ष को) दंगे, यह हम नहीं जानते ।

[वि० सं० २००५ पौष शुक्ला ५, द्वापर]

### ६ : समस्या—कियच्चित्रं वाग्मी भवति बत ! मूकोऽपि मनुजः

कियच्चित्रं वाग्मी भवति बत ! मूकोऽपि मनुजः,  
स्वकश्लाघाकाले वितथवचनेप्यन्धनयनः ।  
निरुद्धा स्याद् वाणी परगुणकथायां न विदितं,  
क्व दोषो जिह्वायां दति मनसि वा को भिषगऽहो ॥१॥

कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य अपनी झूठी प्रशंसा करने में अन्धा होकर, मूक होता हुआ भी वाचाल हो जाता है । दूसरों की प्रशंसा करने में उसकी वाणी रुक जाती है । न जाने यह दोष जिह्वा में है या दांतों में या मन में ? आश्चर्य है, इसका चिकित्सक कौन हो सकता है ?

कियच्चित्रं वाग्मी भवति बत ! मूकोऽपि मनुजः,  
क्वचित्तलोके प्रेयान् ध्रुवमवसरोऽनेकचरणः ।  
स्वके दोषेऽदोषे प्रियति परिपाट्याप्यपरथा,  
परेषां स्याद्वादः स्फुरति सकलायामपि दिशि ॥२॥

यह कितना आश्चर्य है कि मनुष्य मूक होता हुआ भी वाचाल हो जाता है । इस संसार में अनेक गतियों से चलने वाला अवसर ही प्रिय होता है । मनुष्य अपने दोष और अदोष—दोनों में राग रखता है और दूसरों के दोष और अदोष—दोनों में द्वेष रखता है । लगता है सभी दिशाओं में स्याद्वाद स्फुरित हो रहा है ।

कियच्चित्रं वाग्मी भवति बत ! मूकोऽपि मनुजः,  
चिकित्सावैविध्यं विविधपरिणामाश्च तनवः ।  
तदेतच्चित्रं स्यात् परममिह वाचामधिपति-  
र्भवन्नर्था तत्र स्खलितवचनोऽसन्नुतिविधौ ॥३॥

मूक मनुष्य भी वाचाल हो जाएं इसमें कितना आश्चर्य हो सकता है क्योंकि आज के युग में चिकित्सा की विविधता है और विविध परिणतियों वाले शरीर हैं। आश्चर्य यह हो सकता है कि वाणी पर अधिकार रखने वाले व्यक्ति भी किसी वस्तु के प्रार्थी होकर स्वार्थवश असद् बात का विरोध करने में रुक-रुककर बोलते हैं, या मौन हो जाते हैं।

ममायं सन्नेताऽप्रतिहतगतिश्चेति मरुतो,  
 धनः प्रोच्चैर्गच्छन् कथयति कथां वक्त्रविकलः।  
 लसत्कीर्त्तिं लब्ध्वा सुगुरुमथ किं भक्तिभरितः,  
 कियच्चित्रं वाग्मी भवति बत! मूकोऽपि मनुजः ॥४॥

बादल ऊंचे आकाश में चलता हुआ मुख से विकल होते हुए भी गर्जन के द्वारा अपनी यह बात कह रहा है कि अप्रतिहत गति वाला पवन मेरा नेता है, मुझे ले जाने वाला है। किन्तु यह कितना आश्चर्य है कि कीर्तिमान् सुगुरु को पाकर भक्ति से भरा हुआ वाचाल शिष्य भी (गुरु-श्लाघा करने में) मूक हो जाता है।

धनी विद्वद्गोष्ठ्यामपि तदधिपत्वं विरचयन्,  
 कियच्चित्रं वाग्मी भवति बत! मूकोऽपि मनुजः।  
 सवर्णं वाग्मिद्वं भवति खलु मिथ्याश्रुतिरिय-  
 मथो कश्चिच्चोरः प्रथमतदकारञ्च हृतवान् ॥५॥

एक धनी व्यक्ति विद्वानों की गोष्ठी में गया और वहाँ का अध्यक्ष बनकर मूक होते हुए भी (कुछ न जानते हुए भी) वाचालता करने लगा। यह कितना आश्चर्य है? जो यह कहा जाता है कि सवर्ण (विद्वान्) में वाक्पटुता होती है, यह मिथ्याश्रुति है। अथवा किसी चोर ने उस (स्वर्ण) के प्रथम अकार को चुरा लिया, अतः वह वाग्मिता (स—अ+वर्ण=स्वर्ण) स्वर्ण में अधिष्ठित हो गई।

[वि० सं० २००५ पौष शुक्ला ५, छापर]

## १० : समस्या—ब्राह्मणस्य महत्पापं, संध्यावंदनकर्मभिः

ब्राह्मणस्य महत्पापं,  
संध्यावंदनकर्मभिः ।  
सरुष्टं जातिरागेण,  
तिमिरे स्वं व्यलीयत ॥१॥

ब्राह्मण के महान् पाप ने संध्या-वंदन कर्म से रुष्ट होकर जातीय अनुराग के कारण अपने आपको तिमिर में विलीन कर दिया ।

ब्राह्मणस्य महत्पापं,  
संध्यावंदनकर्मभिः ।  
च्युतं सम्मानमालब्धं,  
चित्रं राज्ये द्विजेशितुः ॥२॥

ब्राह्मण का महाम् पाप संध्या-वंदन कर्म से च्युत होकर चला । अन्य किसी ने उसे सम्मान नहीं दिया । आश्चर्य है कि चन्द्रमा के राज्य में उसे सम्मान प्राप्त हो गया ।

(वि० सं० २००५ कार्तिक कृष्णा ७, छापर)

## ११ : समस्या—साम्यं काम्यं प्रकृतिरुचिरं क्वापि वक्रं विभाव्यम्

साम्यं काम्यं प्रकृतिरुचिरं क्वापि वक्रं विभाव्यं,  
मार्गाभावे प्रकृतिकुटिला निम्नगाभून्नदीयम् ।  
वक्रं काम्यं प्रकृतिरुचिरं क्वापि साम्यं विभाव्यं,  
रन्ध्रे वेष्टुं ऋजुगतिरहो रत्नवानेष दर्वी ॥१॥

निसर्गतः जो मनोहर है वह साम्य अच्छा लगता है, किन्तु कहीं-कहीं वक्रता भी आवश्यक होती है । सरल सीधी बहने वाली नदी मार्ग के अभाव में वक्र और

नीचे बहने लग जाती है। निसर्गतः वक्र भी अच्छा लगने लगता है और कहीं-कहीं साम्य भी आवश्यक हो जाता है। सदा वक्र गति करने वाला मणिधर सम बिल में प्रवेश करते समय सीधा-सरल हो जाता है। अतः समता और वक्रता अपने-अपने स्थान में अच्छी लगती है।

निद्रायां वा तमसि विपुले चक्षुषोश्चाप्यभागे,  
भेदाभावो भवति सुतरां तेन कोर्थः प्रसिद्ध्येत् ।  
किं वा भ्रश्येद् विपरियति तत्तेन नैकान्तवादः,  
साम्यं काम्यं प्रकृतिरुचिरं क्वापि वक्रं विभाव्यम् ॥२॥

निद्रा, सघन अन्धकार और नेत्र के अभाव में सर्वत्र अभेद प्रतीत होता है। किन्तु इससे कौन-सा अर्थ सिद्ध होता है? इसी प्रकार इनके विपरीत जागरण, प्रकाश और नेत्र के अस्तित्व में कौन-सी हानि होती है? इसलिए यह एकान्त सत्य नहीं है कि समता ही काम्य है और वक्रता अकाम्य या वक्रता ही काम्य है और समता अकाम्य।

(वि० सं० २००७—हिसार)

## १२ : समस्या—सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्तः

सत्यं कटुत्वं तव वारिराशे !,  
रत्नानि नीचैश्चरणे दधासि ।  
मूर्धन्यन्तानि तृणानि हन्त !,  
सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्तः ॥१॥

हे समुद्र ! तुम्हारे लिए यह कटु सत्य है कि तुम रत्नों को नीचे—तल में रखते हो और अपने ऊपर—सतह पर तृणों को धारण करते हो। हां, यह सत्य है कि इस युग में सज्जन व्यक्ति दुःख पाते हैं और दुर्जन व्यक्ति सुखी रहते हैं।

तनूनपातः कणिका प्रदीपे,  
स्नेहञ्च वतिञ्च नयेत नाशम् ।

अधस्तमिस्रं कुरुते निषद्यां,  
सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्तः ॥२॥

दीपक में रही हुई अग्नि की एक कणिका भी तेल और बाती का नाश कर डालती है। उसके नीचे अन्धकार आनन्द से बैठा रहता है। यह सच है कि सज्जन व्यक्ति दुःख पाते हैं और दुर्जन व्यक्ति सुखी रहते हैं।

सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्तो,  
दोषः सतामेष वितर्कणीयः।  
न चाचरन्तोपि खलत्वमत्र,  
प्रसादयत्नं न च ते त्यजन्ति ॥३॥

सज्जन व्यक्ति दुःख पाते हैं और दुर्जन व्यक्ति सुखी रहते हैं। सज्जन व्यक्तियों का यह दोष चिन्तनीय है कि वे कभी दुर्जनता का आचरण नहीं करते और अपनी सज्जनता को कभी नहीं छोड़ते।

सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्तः,  
किमत्र चिन्त्यं बहु पंडितेन।  
मताधिकारस्य युगे बहुत्वं,  
सतामशेषां निजकीकरोति ॥४॥

सज्जन व्यक्ति दुःख पाते हैं और दुर्जन व्यक्ति सुख से रहते हैं—इसमें पंडित व्यक्ति को ज्यादा क्या सोचना है? यह मताधिकार का युग है। बहुमत सारी सत्ता को अपने हाथ में कर लेता है। तात्पर्य है कि आज के युग में सज्जन कम हैं और दुर्जन अधिक।

(वि० सं० २००७—हिसार)



### १३ : समस्या—विषममसिधाराव्रतमिदम्

परान्नीत्वा शेषं क्षणमिह नयेत् कश्चिदुदयं,  
नयेदन्ते तेजः परिणतिमलं कालिमनि तत् ।  
कृशानोस्तज्ज्योतिः किमिति समिधामन्तललितं,  
तदाप्तं स्वोत्सर्गैर्विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥१॥

कोई पुरुष दूसरों का अन्त कर स्वयं उदय को प्राप्त होता है, किन्तु अन्त में उस तेज की परिणति कालिमा में होती है। ईंधन का अन्त कर चमकने वाली अग्नि की ज्योति का अन्तिम परिणाम कालिमा है, राख है। जो तेज स्वयं के उत्सर्ग—बलिदान से प्राप्त होता है, वह वस्तुतः कठोर असिधाराव्रत है।

वृहद्भानोस्तापे तपति नवनीतं त्विति न न,  
न तापेऽपि स्नेहं त्यजति तदिदं विस्मयकरम् ।  
परस्यातापेनातपति हृदयालुः प्रतिपलं,  
स्वलभ्यो मूल्यस्तद् विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥२॥

किसी ने कहा—देखो, अग्नि के ताप से नवनीत तप जाता है। दूसरा मित्र बोला—नहीं, यह कोई विस्मय की बात नहीं है। विस्मय की बात यह है कि वह तप्त होने पर भी अपने स्नेह को नहीं छोड़ता। हृदयालु पुरुष दूसरे के आतप—कष्ट में स्वयं तप्त होता है, पीड़ित होता है, किन्तु अपने स्नेह को नहीं छोड़ता। यह उसका अपना मूल्य है। यथार्थ में यह कठोर असिधाराव्रत है।

मलानामावासो वपुरिति मुहुश्चिन्तितमलं,  
क्षणं सौख्यं दुःखं बहु तदपि बुद्ध्याभ्युपगतम् ।  
न चंतावच्चिन्ताकणनिचयवार्यो हि विषम-  
शरस्तेन प्रोक्तं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥३॥

मैंने बहुत बार यह चिन्तन किया है कि यह शरीर मलों का आवास-स्थल है और मैंने बुद्धि से यह भी स्वीकार कर लिया कि सुख-दुःख क्षणिक हैं; किन्तु इतने चिन्तन कर्णों से ही कामदेव को नहीं रोका जा सकता। इसीलिए यह कहा गया है कि काम पर विजय पाना कठोर असिधाराव्रत है।

विदन्तो ब्रह्मान्तं विषममसिधाराव्रतमिदं,  
वदन्तो ब्रह्मेदं विषममृतधाराहितमपि ।

असत्यं तज्ज्ञानं कथनमथवा नो फलति यद्,  
गती नित्यालस्यं सहजरुचिराहारविषये ॥४॥

जो लोग जानते हैं कि ब्रह्मचर्य कठोर असिधाराव्रत है और जो लोग कहते हैं कि यह ब्रह्मचर्य अमृतधारा से आहित होने पर भी विष जैसा है, वह ज्ञान और कथन असत्य है। गति में नित्य आलस्य है और आहार के प्रति सहज आकर्षण है, तब ब्रह्मचर्य फलित कैसे हो ?

(वि० सं० २००७ चातुर्मास, हांसी)

### १४ : समस्या—कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा,  
यस्यात्यन्तं प्रकृतिविजयो यस्य नास्त्येव किञ्चित् ।  
लाभालाभे भवति समता तस्य किन्नाम दुःखं,  
रक्तो द्विष्टः सततमपि यस्तस्य सौख्यं कुतस्त्यम् ॥१॥

अत्यन्त सुख किसे प्राप्त होता है ? अत्यन्त दुःख किसे प्राप्त होता है ? जिसने अपनी प्रकृति पर पूर्ण विजय पा लिया है, उसे अत्यन्त सुख प्राप्त होता है और जिसे अपनी प्रकृति पर किञ्चित् भी विजय प्राप्त नहीं है उसे अत्यन्त दुःख मिलता है। जो व्यक्ति लाभ और अलाभ में सम रहता है, उसे दुःख कहां ? और जो लाभ में रक्त और अलाभ में द्विष्ट होता है उसके सुख कहां ?

या दृग् वाष्पं किरति शिशिरं सैव कोष्णं कदाचित्,  
कामं शांतिं वहति पवनः सोपि सन्तापदग्धः ।  
शाम्येद् वन्हि तदपि सलिलं वाडवाक्रान्तकार्यं,  
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ॥२॥

जो आंख कभी ठंडी भाप को बिखेरती है, वह कभी ऊष्ण आंसू भी बहाती है। जो पवन पर्याप्त शीतलता को वहन करता है, वह कभी ताप से गरम भी हो उठता है। पानी आग को बुझाता है किन्तु वह भी वाडवानल से आक्रान्त हो जाता है। यह सत्य है कि अत्यन्त सुख और अत्यन्त दुःख किसे प्राप्त है ?

दीप्रो दीपः पवनसचिवो लोप्नुकामस्तमिस्रं,  
 प्रोच्चैश्चेष्टामकृत बहुशः प्राप्नुवन् स्नेहयोगम् ।  
 आलोकेऽपि प्रकृतिचपलो नान्वभूदाशु नाशं,  
 कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ॥३॥

मन्द-मन्द पवन के सहारे दीप जल रहा है। वह अन्धकार को चुराना चाहता है। उसने बहुत बार स्नेह का योग पाकर अन्धकार को चुराने के अनेक यत्न किए। प्रकृति से चपल उस दीप के आलोक ने भी यह अनुभव नहीं किया कि वह शीघ्र बुझ जाने वाला है। अत्यन्त सुख या अत्यन्त दुःख किसे प्राप्त होता है।

(वि० सं० २००८ चैत्र—रतनगढ़)

### १५ : समस्या—भवेद् वर्षारम्भः प्रकृतिपुलको मोदजनकः

जनो दीर्घं चाल्पं प्रकृतसमयं यस्य मनुते,  
 तथाल्पं दीर्घञ्च प्रकृतकरणं यस्य मनुते ।  
 प्रसन्नान्मन्यां वा दूशमपि तथा तस्य कृतिनो,  
 भवेद् वर्षारम्भः प्रकृतिपुलको मोदजनकः ॥१॥

जिसके प्रकृत समय को मनुष्य अल्प होने पर भी दीर्घ मानता है और जिसके प्रकृत कार्य को दीर्घ होने पर भी अल्प मानता है, जिसकी प्रसन्न दृष्टि को दीर्घ होने पर भी अल्प मानता है और जिसकी अप्रसन्न दृष्टि को अल्प होने पर भी दीर्घ मानता है, उस भाग्यशाली मनुष्य के वर्ष का आरम्भ प्रकृति को पुलकित और जनमानस को प्रमुदित करने वाला होता है।

चिरं तापः पृथ्वीमपि च गगनं श्लिष्यतितमा-  
 मशेषाणां शोषं नयति सरसत्वं प्रतिपलम् ।  
 समाधातुं दीर्घा बहुजनसमस्याममुमसौ,  
 भवेद् वर्षारम्भः प्रकृतिपुलको मोदजनकः ॥२॥

चिरकाल से आतप पृथ्वी और आकाश को तप्त कर रहा है। वह सभी

सरसताओं का प्रतिपल शोषण कर रहा है। सभी व्यक्तियों की यह दीर्घकालीन समस्या है। इसका समाधान करने वाला वर्षा का आरम्भ प्रकृति को पुलकित और जन-जन को प्रमुदित करने वाला होता है।

### १६ : समस्या—जनः सामान्योऽयं कथमिव विजानीत सहसा

विनिद्राणे नेत्रे स्फुरति विमलज्योतिरभितः,  
 सुषुप्तेऽपि स्वान्ते लषति विपुला शक्तिरनिशम्।  
 विमूकेऽप्यारावे तरति गहनो भावजलधिः,  
 जनः सामान्योऽयं कथमिव विजानीत सहसा ॥१॥

नींद से मूंदी हुई आंखों में भी चारों ओर विमल ज्योति प्रस्फुटित हो रही है। सुषुप्त चित्त में भी सदा विपुल शक्ति प्रभासित होती है। मूक शब्दों में भी भावों का गहन समुद्र तैर रहा है। इन तथ्यों को सामान्य व्यक्ति सहसा कैसे जान सकता है ?

मुदा चक्षुस्त्रावो भवति बत ! शोकेन सपदि,  
 द्वयोरेवाधिक्ये फलति मृतिराहो ! च विचितिः।  
 प्रसन्नास्तेनैव स्थितिरभिमता योगिभिरमुं,  
 जनः सामान्योऽयं कथमिव विजानीत सहसा ॥२॥

हर्ष और विषाद में आंखों से सहसा आंसू बहने लग जाते हैं। दोनों की अधिकता से मृत्यु अथवा चैतन्य-शून्यता भी हो जाती है। इसलिए योगियों ने केवल प्रसन्न स्थिति को ही मान्यता दी, किन्तु इसे सामान्य व्यक्ति सहसा कैसे जान सकता है ?

१७ : समस्या—न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति

न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति,  
स्मृतिरतनुचिता स्यादेषभावस्तदर्थम् ।  
उपकृतिकृतचित्तैर्बुद्धिरिच्छेदभेद-  
मुचितमिति मतं स्याद् विस्मृतौ वा स्मृतौ वा ॥१॥

सज्जन व्यक्ति किए हुए उपकारों को नहीं भूलते । यह स्मृति बहुत मात्रा में संचित होती है । इसीलिए यह बात कही गई है । किन्तु मनुष्य की बुद्धि उपकार-परायण व्यक्तियों के साथ अभेद चाहती है और यही मत उचित है कि अभिन्नता प्राप्त होने पर विस्मृति और स्मृति में कोई अन्तर नहीं रहता ।

न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति,  
परमुपकृतिभाषा रूपमेकं न धत्ते ।  
उपकृतिनिपुणैतिच्छेदमाधायसूचि-  
रुपकृतिपटु यातिच्छेदमापूर्य सूत्रम् ॥२॥

सज्जन व्यक्ति किए हुए उपकारों को नहीं भूलते किन्तु उपकार की परिभाषा एक-सी नहीं होती । उपकार करने में निपुण सूई छेद करती है और उपकार करने में पटु धागा उस छेद को भर देता है ।



चतुर्थो विभागः

**उन्मेषाः**





## १ : सत्संगाष्टकम्

श्रीमत्तुलसीरामाणां,

यशसः सङ्गमादऽहो ।

सद्यो धवलितैर्जिग्ये,

हस्तिमल्लो हि दिग्गजैः ॥१॥

श्रीमत् तुलसीराम के यश के संयोग से सभी दिग्गज इतने सफेद हो गए कि उन्होंने अपनी धवलिमा से ऐरावत हाथी को भी जीत लिया ।

घासोऽपि गोः सङ्गमतः पयः स्याद्,

घृतं क्रमात्तच्च पुरातनं तु ।

हतुं रुजः प्रत्नतमाः प्रभूष्णुः,

किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥२॥

गाय के संग से घास भी दूध बन जाता है और फिर वह घी के रूप में परिवर्तित हो जाता है । घी जितना पुराना होता है उतना ही वह जीर्ण रोगों को नष्ट करने में समर्थ होता है । सत्संग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करूं ?

गुंजा नृणामंहितले भ्रमन्त्य-

स्तुलाप्रसंगात् तुलनां सृजन्ति ।

चामीकरस्यातनुमूल्यभाजः,

किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥३॥

घुंघचियां मनुष्यों के पैरों के नीचे पड़ी रहती हैं किन्तु वे ही तराजु के प्रसंग को पाकर अमूल्य सोने को तोलने में प्रयुक्त होती हैं । सत्संग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करूं ?

अगण्य एवंक उदस्य बिन्दुः,  
सरस्वतः सङ्गमुपेत्य सद्यः ।  
नयेत रम्यामह सिन्धुसंज्ञां,  
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥४॥

पानी का एक नगण्य बिन्दु समुद्र का संयोग पाकर सिन्धु की संज्ञा को प्राप्त हो जाता है । सत्संग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करूँ ?

भूधातुरास्ते ननु वर्तनायां,  
प्रस्योपसर्गस्य सुयोजनेन ।  
अर्थ प्रभुत्वस्य सलीलमेति,  
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥५॥

भूधातु का अर्थ है—होना । 'प्र' उपसर्ग के योग से वह 'प्रभु' के अर्थ को प्रकट करता है । सत्संग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करूँ ?

दशार्णभद्रो वसुधाधिराजो,  
जिनेशितुर्वीरविभोः कृपातः ।  
न्यपातयत् शक्रमपि स्वपादे,  
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥६॥

दशार्णभद्र दशार्ण देश का राजा था । उसने तीर्थंकर महावीर की कृपा से इन्द्र को भी अपने पैरों में झुका दिया । सत्संग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करूँ ?

न काचिमं चापि पुनाति किञ्चिद्,  
यदुत्तमांगं तदपि क्षणेन ।  
पुनाति पांशुगुरुपादसंस्था,  
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥७॥

जिस मस्तक को स्वच्छ जल भी पवित्र नहीं करता, उसे गुरु-पाद की धूलि पवित्र बना देती है । सत्संग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करूँ ?

घनाघनस्याश्रयतो हि विद्युत्,  
संप्रोज्ज्वलद्दावशिखिक्षयाहैः ।

बभूव तोयप्रकरैरजेया,  
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥८॥

विद्युत् मेघ के आश्रय में रहती है अतः वह घघकती हुई दावानल की अग्नि को शान्त करने वाली प्रचुर पानी की धाराओं से भी अजेय हो जाती है। सत्संग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करूं ?

प्रभावतः श्रीतुलसीप्रभूणां,  
मत्सन्निभस्तुच्छधियान्वितोऽपि ।  
करोति सत्सङ्गविवेचनं च,  
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥९॥

मेरे जैसा तुच्छ बुद्धिवाला व्यक्ति भी सत्संग के माहात्म्य का विवेचन करता है, यह श्री तुलसी स्वामी का ही प्रभाव है। सत्संग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करूं ?

(वि० सं० १९९९ पौष—मोमासर)

## २ : अध्ययनस्मृतिः

लोका ! सज्जत कर्णकाञ्चनकुटीमातिथ्यमाधास्यते,  
संदोहो वचसां स्फुटाधरसरस्तीरे स्फुरंल्लीलया ।  
अन्तर्मोदलसत्कपोलपटली दन्तावली सस्मिता,  
लोला लोलरसा च लोचनगता लीलारसं स्पृक्ष्यति ॥१॥

मनुष्यो ! तुम सावधान हो जाओ । अब स्फुट होठ रूपी तालाब के तीर पर लीला करने वाला वचन-संदोह तुम्हारे कानरूपी स्वर्णकुटी में अतिथि बनकर आ रहा है ।

अन्तर् में झांकते हुए उल्लास से दिप्त कपोलपटली, स्मितयुक्त दन्तावली और चपल जिह्वा—ये सब तुम्हारी आंखों के सामने प्रस्तुत होकर लीला रस का स्पर्श करेंगी ।

तद् ध्यायामि दिनं स्वजीवनधनं धन्यं महोमंगलं,  
श्रीकालोः करुणानिधेरमलयोः पादाब्जयोः सन्निधौ ।  
सद्भक्त्यानतकन्धरोऽञ्जलिवरः प्रोत्साहदीक्षापटु-  
दीक्षां स्वीकृतवान् विरक्तहृदयो मात्रा समं पर्षदि ॥२॥

मुझे उस जीवन-धन, धन्य, उत्सवमय और कल्याणकारी दिन की स्मृति हो रही है जिस दिन मैं करुणा के सागर श्रीमत् कालूगणी के पवित्र चरण-कमलों में आया । उस समय मेरे में दीक्षा लेने का परम उत्साह था । विरक्त हृदय वाले मैंने अपनी मां (बालूजी) के साथ भरी परिषद् में दीक्षा स्वीकार की । उस समय मैं आचार्य देव के समक्ष सिर झुकाए, हाथ जोड़े खड़ा था ।

तस्मिन्नैव दिनेऽथ काञ्चनमयी सप्त कापि वेला लसद्,  
यस्यामभ्यसितुं कलाकुशलतामाचारसंबन्धिनीम् ।

सामोदं मुनिनायकेन तुलसीपादद्युधुन्यास्तटे,  
सौभाग्यादवतारितः शिशुरहं प्रोद्दामदीप्रत्विषा ॥३॥

उसी दिन कोई स्वर्णमय बेला आयी। उन क्षणों में आचार-सम्बन्धी कला-कुशलता का अभ्यास कराने के लिए आचार्य चरण ने अपनी कृपारूपी तीव्र किरणों के सहारे मुझ शिशु को मुनि तुलसीरूपी सरिता के तट पर उतारा।

सद्भाग्योदयमेव मे प्रतिपदं मन्येऽहमुच्चैस्तरां,  
विज्ञानां मुकुटस्य शासनपतेः कालोस्तु हेत्वन्तरम् ।  
मच्छिष्यो मनुजाकृतिं मनुजतावाच्यार्थशून्यास्पदं,  
कतुं मानवमर्हति स्फुटमिति ध्यात्वा सुयुक्तं कृतम् ॥४॥

मैं पग-पग पर अपना परम भाग्योदय मानता हूँ कि विद्वान् शिरोमणि, शासनपति श्रीमद् कालू ने मेरे लिए यह सोचा था कि 'मेरा यह शिष्य केवल मनुजाकृति मात्र है और मानवता के वाच्य-अर्थ से शून्य है। इसको मुनि तुलसी मानव करने में समर्थ है।' इसीलिए पूज्य गुरुदेव ने मुझे तुलसी के पास सौंपा। यह उन्होंने उचित ही किया।

गन्तुं नाप्यधिगन्तुमध्वनिगतिः कस्मिन्नपि प्रालस-  
ल्लोलं लोचनमक्षिपं सुमुनिना संकेतितयां सृतौ ।  
वारंवारमथाङ्गुलीग्रहकृता सा सारणा वारणा,  
मामद्य स्मृतिमागता वितनुते मुद्विह्वलं रंहसा ॥५॥

किसी मार्ग पर चलने या किसी विषय को जानने में मेरी गति नहीं थी। मुनि तुलसी जिस मार्ग का संकेत दे देते मैं अपनी चंचल आंखों को वहीं टिका देता। उन्होंने बार-बार मेरी अंगुली पकड़-पकड़कर मुझे गन्तव्य की दिशा में गतिशील बनाया और अगन्तव्य की दिशा में जाने से रोका। आज उसकी स्मृति होने मात्र से मेरा मन प्रसन्नता से सहसा विह्वल हो उठता है।

किं चित्रं पथदर्शको मुनिपतिर्यत्साम्प्रतं राजते,  
तच्चित्रं यशसोज्ज्वलस्य गणिनः कालोः पदाम्भोरुहि ।  
लीलां माधुकरिं नयन्नयनयोस्तारापदं संसज-  
न्ध्वानं निरवद्यमुज्ज्वलमना मां चेतसा दर्शयत् ॥६॥

यह कोई आश्चर्य नहीं कि वे हमारे पथ-दर्शक मुनि तुलसी आज तेरापंथ में

आचार्य के रूप में विराजमान हैं, किन्तु आश्चर्य यह है कि वे महान् यशस्वी कालूगणि के चरण-कमल में भ्रमर की तरह लीला करते हुए तथा उनकी आंखों में तारा की तरह समाते हुए पवित्र मन से मनोयोगपूर्वक मुझे सही मार्ग-दर्शन दे रहे हैं।

भास्वान् भासयति प्रभासुररुचा भावानशेषानपि,  
नांशोरंशमपि प्रयच्छति परं तेभ्यः कदापि क्वचित् ।  
चित्रं ज्ञानमयं प्रकाशमददो मां प्राङ् मुनोनां पते !,  
भानुर्नो तुलितस्त्वया किल पुरा किं साम्प्रतं कल्प्यताम् ॥७॥

सूर्य अपनी प्रकाशवान् किरणों से सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है किन्तु वह अपने प्रकाश का एक अंश भी उन्हें कभी नहीं देता। गुरुदेव ! आपने मुझे ज्ञानमय प्रकाश दिया। आप पहले भी सूर्य से तुलित नहीं हुए तो आज उसकी कल्पना ही कैसे की जा सकती है ?

संस्मृतुं दिवसानि तानि हृदयं प्रोत्साहमालिङ्गति,  
जिह्वा श्लिष्यति वर्णसंततिमपि प्रोत्कण्ठया चञ्चला ।  
आनन्त्यं खलु सद्गुरोरुपकृतेरालोकमाना मुदा,  
सामग्रीं तनुमात्मनश्च तरसा विश्राममाकांक्षति ॥८॥

हृदय उन दिनों की स्मृति करने के लिए उत्साहित हो रहा है। उत्कंठा से अत्यन्त चंचल बनी हुई मेरी जिह्वा कुछ बोलना चाहती है। गुरु का उपकार अनन्त है और मेरी अपनी अभिव्यक्ति की सामग्री अल्प है। अतः वह अब विश्राम चाहती है।

(विक्रम संवत् २००२ माघशुक्ला १०, सरदारशहर)

## ३ : कोऽयं सत्संगः ?

सा संगतिर्याऽधमता वियुक्ता,  
स सज्जनो यश्च गुणी गुणज्ञः ।  
स एव लाभश्च तयोर्यतः स्या-  
दात्मोन्नतिः संततवृद्धिशीला ॥१॥

वही संगति है जो अधमता से रहित है। वही सज्जन है जो गुणी और गुणज्ञ है। इन दोनों से वही लाभ प्राप्त होता है कि आत्मोन्नति सदा बढ़ती रहती है।

यद्यप्यमुष्मिन् भुवने भवन्ति,  
धाराधराद्याः सुजनोपमाहर्हि।  
तथापि तत्पाश्चिममैक्ष्य कार्यं,  
वयं प्रशंसां न विदधमहेऽत्र ॥२॥

यद्यपि इस धरती-तल पर बादल आदि सज्जन कहलाने के योग्य हैं, फिर भी उनके अंतिम कार्य को देखकर हम उनकी प्रशंसा नहीं कर सकते।

संगृह्य पानीयमर्मानमब्धेः,  
क्षारं पयोमुग्ं मधुरं विधाय ।  
यदूषरे तत्सलिलं सुध्वामं,  
क्षिपेत् किमौचित्यमिहाम्बुदस्य ॥३॥

मेघ समुद्र के खारे पानी को अतुल मात्रा में ग्रहण कर उसको मीठा करता है और उस अमृततुल्य पानी को ऊसर भूमि पर बरसाता है तो क्या वह बादल के लिए उचित कहा जा सकता है ?

यत्कज्जलानां सुषमां तनोति,  
चक्षुः समीपं समुपागतानाम् ।  
तत्कालिमानं न हि हर्तुमीशं,  
किमत्र गेया विदुषास्य कीर्त्तिः ॥४॥

आंख अपने पास आए हुए कज्जल की भी शोभा बढ़ा देता है किन्तु उसकी कालिमा को मिटा नहीं सकता। क्या विद्वान् व्यक्ति के लिए उसकी कीर्ति गेय है ?

गले विलग्नं फणिनं गिरीश-  
श्चकार पक्षिप्रभुणाप्यजेयम् ।  
परं विषं नापजहार तस्य,  
सत्सङ्गतेजो हि किमेतदेव ? ॥५॥

शंकर ने अपने गले में लिपटे सर्प को इतना बलशाली बना दिया कि वह गरुड़ से भी अजेय हो गया, किन्तु उसके विष का अपहरण नहीं किया। क्या सत्संग का यही तेज है ?

तुच्छं पयोदच्युतमम्बुविन्दुं,  
शुक्तिर्महाधर्याकुरुते सुमुक्ताम् ।  
तां मारयित्वा लभतेऽर्घ्यतां सा,  
हा हाऽधमानां किमियं प्रवृत्तिः ? ॥६॥

सीपी बादल से बरसी हुई पानी की छोटी-सी बूंद को धारण कर उसे मूल्यवान मोती बना देती है। किन्तु मोती बनी हुई वह बूंद उस सीपी को तोड़कर ही मूल्य पाती है। हा-हा! अधम (तुच्छ) व्यक्तियों की यह कैसी प्रवृत्ति ?

प्रफुल्लितं पद्ममहर्मणे रुचा,  
प्रादुर्भूरोत्येव रवेः प्रभावम् ।  
जन्मास्पदं शोषयते हि तस्य,  
प्रशंसनीया किमियं प्रवृत्तिः ? ॥७॥

सूर्य की किरणों से विकसित कमल सूर्य के प्रभाव का ख्यापन करता है किन्तु सूर्य अपने को जन्म देने वाले कीचड़ का शोषण करता है। क्या यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय है ?



तुच्छोऽपि तन्तुः किल \* पुष्पयुक्त-  
 स्तिष्ठेद् वरांगे वसुधाघवानाम् ।  
 मणीवके निष्क्रियतां प्रयाते,  
 भ्राम्येत् स नूनं चरणे जनानाम् ॥८॥

फूलों में पिरोया हुआ तुच्छ धागा भी राजाओं के मस्तिष्क पर शोभित होता है। किन्तु जब फूल मुरझा जाते हैं, तब वही धागा (कुम्हलाए हुए फूलों के साथ) लोगों के चरणों में ठोकरें खाते रहता है।

वनस्थली चन्दनशाखियुक्ता,  
 तुच्छातितुच्छापि सुगंधिता स्यात् ।  
 श्रीखण्डवृक्षे सहसा विनष्टे,  
 न गन्धलेशोऽपि विभाति तस्याम् ॥९॥

जिस वनस्थली में चन्दन के वृक्ष हैं, वह चाहे अत्यन्त छोटी भी क्यों न हो, सुगंधित होगी। चन्दन के वृक्षों के नष्ट होने पर, उस वनस्थली में गंध का नामोनिशान भी नहीं मिलता।

(वि० सं २००२, पीष, मोमासर)

## ४ : वीतरागाष्टकम्

कदापि नो तीर्थपते ! लुलोठ,  
त्वत्पादराजीवरजःकणेषु ।  
ततो हहा ! कर्मरजोभिरेष,  
आत्मा मदीयो न हि मोचितोस्ति ॥१॥

तीर्थपते ! मेरी यह आत्मा आपके चरण-कमलों के रजः कणों में कभी लुठित नहीं हुई इसीलिए यह कर्मरजों से मुक्त नहीं हो पा रही है ।

स्वामिंस्त्वदीयक्रमवारिजे न,  
रोलम्बसाब्रह्म्यमहं चुचुम्ब ।  
अद्यापि यातो भववारपार-  
पारं न पारंगत ! तेन मन्ये ॥२॥

स्वामिन् ! तुम्हारे चरण-कमलों का मैंने भ्रमर-भाव से चुम्बन नहीं किया । इसलिए हे पारंगत ! मैं मानता हूँ कि मैं अभी तक संसार-समुद्र का पार नहीं पा सका ।

मनागपि प्राक् तव वाक्पराग-  
रागेन नाहं भगवन् ! ररञ्ज ।  
ततो महाभाग ! विरागरिक्तो,  
व्यक्तोस्ति रागो मयि नक्तमह्नि ॥३॥

भगवन् ! मैं तुम्हारी वाणी के पराग से किञ्चित् भी रक्त नहीं हुआ । इसीलिए हे महाभाग ! मुझमें विरागशून्य राग दिन-रात व्यक्त हो रहा है ।

श्रेष्ठा तवानन्तगुणैर्विशिष्टा,  
मूर्तिर्मया हृष्टहृदा न दृष्टा ।

ततोऽभवन्नोस्फुटदृष्टिसृष्टिः,  
सम्यक्पदार्थाशयदर्शिनीश ! ॥४॥

हे ईश ! मैंने श्रेष्ठ और अनन्त गुणों से विशिष्ट आपकी मनोहारी मूर्ति को प्रसन्न-हृदय से नहीं देखा इसीलिए पदार्थों को यथार्थ स्वरूप को देखने वाली स्फुट दृष्टि का निर्माण नहीं हुआ ।

विभो ! प्रशान्तेन तवाशयेन,  
मनो मदीयं न चकार मैत्रीम् ।  
अतो हि तृष्णा न मनो विमुंचेत्,  
सपत्नतां यापयतीव मन्ये ॥५॥

प्रभो ! आपके शान्तभाव के साथ मेरे मन ने कभी मैत्री नहीं की । इसीलिए तृष्णा उसका पीछा नहीं छोड़ रही है । मैं मानता हूँ कि वह मेरे मन के साथ सौतेला व्यवहार कर रही है ।

नालोचनीयो न विचारणीयो-  
ऽहं स्यामहं त्वं त्वमिहैव देव ! ।  
त्वत्ता मयि स्यादपयातु मत्ता,  
स्वकाः स्वकास्तेन परे परे स्युः ॥६॥

देव ! मैं न आलोचनीय हूँ और न विचारणीय हूँ क्योंकि मैं 'मैं' हूँ और तुम 'तुम' हो । तुम्हारी सत्ता (शुद्ध चित्) मुझमें आए और मेरी सत्ता (अशुद्ध चित्) दूर हो जाए । यह सच है कि अपना अपना और पराया पराया होता है ।

क्रोधः कुटुम्बी मन एव मानो,  
मायैव जाया सहजाभिलाषा ।  
जानीहि जानीहि महानुभाव !,  
कोहं विभुः का प्रगतिर्मदीया ॥७॥

हे महानुभाव ! क्रोध मेरा कुटुम्बी, मान मेरा मन, माया मेरी सहचरी और अभिलाषा सहजात रही है । देव ! तुम देखो-देखो, मैं कौन हूँ—परमतत्त्व और मेरी क्या गति हो रही है ।

स्वामिन्निदानीं शरणं प्रपन्नं,  
मां बाललीलां कलयन्तमेवम् ।

१७४ अतुला तुला

कुरु द्रुतं नक्रविभूषणाख्यं,  
ज्ञानामृतोद्भूतरसं पिपासुम् ॥८॥

स्वामिन् ! मैं आपकी शरण में आया हूँ । यद्यपि मैं बाल-लीला से आकलित हूँ, फिर भी तुम मुझमें (मुनि नथमल में) ज्ञानामृत के रस की प्यास जगाओ ।

(वि० सं० १९९८ पौष—राजलदेसर)

## ५ : तेरापंथचतुर्विंशतिः

निदाघे संतप्तास्तरणकिरणोच्चण्डिमरुचा,  
पिपासालोलास्याः करुणतरुणाक्षस्फुरणकाः ।  
श्लथं विन्यस्यन्तो मुहुरपि मुखान्ने करपुटं,  
निरुद्धा सन्नान्तश्चटुलतरचाटूक्तिविसराः ॥१॥

ग्रीष्म काल । सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से तप रहा है । सारे प्राणी उस ताप से तप्त हैं । मनुष्यों के मुँह प्यास से चंचल हो रहे हैं । आंखें तरुण करुणा से स्फुरित हो रही हैं । मनुष्य प्यास से आतुर होकर अपने मुख पर बार-बार धीमे से करपुट रखते हुए तीव्र प्यास का संकेत दे रहे हैं । वे अपने भीतर अत्यन्त चपल चाटू उक्तियों को रोके हुए हैं ।

क्षणं श्वासस्पन्दाः क्षणमथ निरुद्धश्वसितयः,  
प्रयाम्यायामीत्युत्तरविधिकृतो हा इव चिरम् ।  
वपुर्वैरस्यार्ता व्यथितमनसो व्याकुलधियो,  
जनाः जाताः सर्वेऽप्यहह कलिकालस्य महिमा ॥२॥

क्षण भर में उनका श्वास स्पंदित होता है और क्षण भर में उनका श्वास रुक जाता है । मानो कि वह श्वास 'जाऊँ या आऊँ' इस प्रश्न का उत्तर देने में वितर्क कर रहा हो । सभी मनुष्यों के शरीर नीरस, मन व्यथित और बुद्धि व्याकुल है । यह सारी कलिकाल की महिमा है ।

न निद्रा नोन्निद्राः किमपि कलयाञ्चक्रुरनिशं,  
दिगन्तान्निशेषान् दृशि दृशि निराशारवमुषि ।  
अनन्तान् संकल्पाननुकरणनानात्वनिपुणान्,  
जनाः सर्वेऽप्येवं विधुरितदशाः सन्निदधिरे ॥३॥

लोग न नींद में थे और न उन्निद्र । वे निरन्तर किसी विचित्र स्थिति का अनुभव

कर रहे थे। वे सम्पूर्ण दिगन्तों को अपने में समेट रहे थे। उनकी आंखें निराशा के शब्द को चुरा रही थीं। वे विधुरित दशा वाले लोग अनुकरण-पटु अनन्त संकल्पों को अपना सान्निध्य दे रहे थे।

समायाताः केचिद् बहलबहुलाभ्रच्छविजुषः,  
 तृषाक्लान्ता लोका मुंदमपि च निन्युः पृथुतराम् ।  
 कलेः कोपाक्रान्ताः परमिह न किञ्चित् प्रववृषु-  
 र्हो दोःस्थ्यं केलि कलयति कलौ काञ्चन नवाम् ॥४॥

आकाश को सुशोभित करने वाले कई मेघ गगन में उमड़ आए। तृषा से आतुर लोगों के मन प्रसन्नता से भर गए। किन्तु कलिकाल के कोप से आक्रान्त होकर वे बादल नहीं बरसे। अहो ! इस कलिकाल में दरिद्रता कोई नया खेल रही है।

[राजनगर (मेवाड़) के श्रावक सशंकित हो गए। आचार्य भिक्षु उनको समझाने के लिए गए। उन्हें देख लोग अत्यधिक प्रसन्न हुए। किन्तु प्रारंभ में भिक्षु ने, सत्य को जानते हुए भी असत्य का समर्थन किया। यह उनकी भीरुता थी।]

नभस्वानामोदस्मित इव मृदुः प्रादुरभव-  
 त्तदानीं नभ्राजां नभसि नवलीलाऽप्यलषत ।  
 कलेः कोपाटोपोऽन्वभवदविशेषं विफलतां,  
 न लुम्पेत्माहात्म्यं जगति महतां कोऽपि किमपि ॥५॥

इतने में ही आमोद से मुसकराता हुआ कोमल पवन प्रादुर्भूत हुआ। उस समय बादल आकाश में नई लीला करने लगे। यह देखकर कलिकाल के कोप का आरोप अपने आप में विफलता का अनुभव करने लगा। यह सच है कि कोई भी व्यक्ति महान् व्यक्तियों की महत्ता को कुछ भी कम नहीं कर सकता।

(आचार्य भिक्षु ने श्रावकों को समाहित किया, किन्तु स्वयं असमाहित हो गए। उन्होंने सत्य का अपलाप करने के लिए अपने आपको कोसा। रात में ज्वर का प्रकोप हुआ। संकल्प किया और प्रातः श्रावकों के समक्ष सत्य को खोलकर रख दिया। श्रावक संतुष्ट हुए किन्तु विरोध के तूफान उठे। पूर्व संगठन हिलता-सा नजर आने लगा। आचार्य भिक्षु को पथच्युत करने के अनेक प्रयास हुए किन्तु वे अपने संकल्प से विचलित नहीं हुए। उन्होंने संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर डाला। )

अभूत्स्फूर्जद्गर्जरवनिवहभव्यो घनपथः,  
स्फुरद्विद्युल्लेखाविलसितवरो दिक्परिकरः ।  
प्रपातो विन्दूनां तृडपनयनाश्वासनमिव,  
प्रतिसपर्शस्तेषां विलय इव संक्लेशवितते ॥६॥

उठने वाले अनेक गर्जरवों से आकाश गुंजायमान हो रहा था। सारी दिशाओं में बिजली चमक रही थी। लोगों की प्यास मिटाने और उनको आश्वस्त करने के लिए बूढ़े बरसने लगीं। उनके स्पर्श मात्र से सारे संक्लेश विनष्ट होने लगे।

(संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर आचार्य भिक्षु केलवा आए। विक्रम संवत् १८१८ आषाढ शुक्ला १५ को पुनः दीक्षा ग्रहण की। उपदेश देने लगे। लोगों ने सही धर्म के मर्म को समझा। उनके मानसिक क्लेश नष्ट होने लगे।

प्रसारो वेगेन प्रचुरतर एव प्रववृते,  
कलेः क्वासौ सह्यो नियतमविचारावृतमतेः ।  
न चोपायः प्राप्तः स्वलितगतयो यद् बलवति,  
परं दुश्चेष्टानां भवति तदनिष्टं परहिते ॥७॥

मेघ का चारों ओर विपुल मात्रा में प्रसार हुआ। किन्तु सदा अविचार रूपी आवरण से आवृत बुद्धि वाले कलिकाल को यह सह्य नहीं हुआ। मेघ को मिटाने का उसके पास कोई उपाय नहीं रहा। यह सच है कि बलवान् व्यक्ति के आगे दूसरे सभी निरुपाय हो जाते हैं, स्वलित गतिवाले हो जाते हैं। दुष्ट व्यक्तियों की सारी चेष्टाएं दूसरों के हित में बाधा उपस्थित करने वाली होती हैं।

(आचार्य भिक्षु का धर्म-प्रचार वेग से आगे बढ़ा। साम्प्रदायिक लोगों को यह अच्छा नहीं लगा किन्तु इसको रोक पाने के लिए उनके पास कोई उपाय नहीं था। फिर भी वे अनेक चेष्टाओं से उन्हें पथच्युत या पराजित करने का प्रयत्न करने लगे।)

अकार्षील्लोकानां नयनयुगलीमर्धमिलिता-  
महार्षीत्तत्स्पर्शानुभवमपि तज्ज्ञाननिपुणम् ।  
ततो नालोकेरन् सिमतचकितदृग्वीक्षणपरा,  
विदधुः प्रालेयप्रवणपृषतां स्पर्शमपि न ॥८॥

कलिकाल ने लोगों की आंखें अधमुंदी कर डाली और उनके ज्ञाननिपुण स्पर्श के अनुभव का भी हरण कर डाला ताकि लोग स्फुट और चकित आंख वाले

होते हुए भी मेघ को न देख सकें और शीत स्पर्शवाली उन बूंदों का स्पर्श भी न कर सकें ।

(लोगों में अज्ञान घर कर गया था । उनका विवेक नष्ट हो चुका था । वे भिक्षु को सत्यपथगामी मानते हुए और देखते हुए भी नहीं देखते थे और उनके धर्म का स्पर्श भी नहीं करते थे ।)

न वा द्रष्टुं स्पष्टुं कथमपि च शेकुस्तनुभृतः,  
पिपासाऽपोहः किं भवतु तदवस्थः सुविदितम् ।  
निराशा संजज्ञे सकृदहह किञ्चिज्जलमुचः,  
प्रतीकारः कोयं कुटिलजटिलानामभिनवः ॥६॥

लोग मेघ को देखने या उसकी बूंदों का स्पर्श करने में समर्थ नहीं हुए । ऐसी स्थिति में उनकी प्यास कैसे बुझ सकती थी ! मेघ को क्षणभर के लिए निराशा हुई । कुटिल और जटिल बने हुए कलिकाल का यह कैसा नया प्रतिकार ?

(भिक्षु ने देखा, लोग उनके पास आने से कतराते हैं । कोई उन्हें नहीं सुनता । उनके मन में निराशा हुई और उन्होंने तपस्या कर अपने आपको लक्ष्य के लिए खपा देने की बात सोची ।)

घनः स्वस्मिल्लीनः सघनसलिलापादिशमथः,  
स्वकीयं वैशद्यं प्रथितुमविकल्पं कुवलये ।  
क्षपां कार्योन्मुख्याद् विरतिमभिभेजे कथमिव,  
चिरं मोदं लेभे कलिरपि कलाकौशलधिया ॥१०॥

अपने सघन सलिल से शान्ति उत्पन्न करने वाला मेघ निराश होकर अपने आप में लीन हो गया । अपनी विशदता को भूवलय पर फैलाने के कार्य से वह विरत हो गया । यह देखकर अपने कला-कौशल पर नाज करता हुआ कलिकाल बहुत प्रसन्न हुआ ।

(भिक्षु निराश होकर तपस्या में लग गए । धर्म की पवित्रता का प्रचार करने से विरत होकर एकान्त में रहने का उन्होंने निश्चय किया । यह देखकर विरोधी लोग बहुत प्रसन्न हुए ।)

मृदूद्वृत्तो वातः प्रकटमवदातः प्रतिवदौ,  
स्वकर्तव्योच्छ्वासः सकलचरणस्याञ्चलमगात् ।



विनीतः संकेतः कतिपयवचोऽन्यासमधुर,  
इव प्रत्याशां तां फलयितुमभूत्प्रादुरभितः ॥११॥

इतने में ही कोमल और उद्वृत्त वायु बहने लगी। मेघ को अपने कर्तव्य का भान हुआ। उसका उच्छ्वास सारे नभोमंडल का स्पर्श कर गया। उसे शब्दात्मक संकेत मिला। वह मधुर और विनीत संकेत मानो कि उसकी प्रत्येक आशा को फलवती करने के लिए उत्पन्न हुआ हो।

(भिक्षु को निराश देखकर उसके साथ वाले दो मुनि—थिरपाल और फतेचन्द उनके सामने आए और उन्हें तपस्या से अपने आपको मिटा देने की बात को छोड़ धर्म-प्रचार के लिए विनीत भाव से प्रेरित किया। यह सुन भिक्षु को लगा कि उनकी सभी आशाओं के पूर्ण होने का संकेत उनमें निहित है।)

यदि त्वं संकोचं सृजसि तनुषोऽम्भोधरवरः,  
तदानीं लोकार्त्ति कथय हरते कः कृतिवरः।  
इदं किं नो चिन्त्यं चतुरवर ! सत्यम्भसि तव,  
तृषाशङ्कातङ्को विलसति जनानामधिमनः ॥१२॥

वायु ने मेघ से कहा—हे मेघ ! यदि तुम अपने शरीर का संकोच करते हो, बरसने से निराश होते हो तो बताओ लोगों की पीड़ा कौन हरण कर सकेगा ? हे चतुर मेघ ! क्या यह चिन्तनीय नहीं है कि तुम्हारे पास पानी होते हुए भी जनता का मन प्यास की आशंका से भयभीत रहे ?

(मुनिद्वय ने आचार्य भिक्षु से कहा—मुनिवर ! यदि आप विरत होते हैं तो बताएं कि लोगों का दुःख कौन दूर कर सकेगा ? आपके पास सामर्थ्य होते हुए भी यदि जनता की धर्म की प्यास नहीं बुझ सकी तो क्या यह चिन्तनीय नहीं है ?)

करालोऽयं कालः कलिरवनिखण्डं प्रणयति,  
ततो मुग्धा दग्धा मयि निदधते नैव पटुताम्।  
स्पृशन्त्येवं नापि प्रणयनिकुरम्बेङ्गितपराः,  
कथंकारं कार्यः पवन ! परिहारोऽपि च तृष। ॥१३॥

मेघ ने कहा—‘पवन ! यह कराल कलिकाल सारी पृथ्वी को अपने चंगुल में फंसा रहा है। इसलिए लोग मूढ़ और दग्ध हो चुके हैं। वे मेरे में कोई उत्साह नहीं दिखाते। वे कलिकाल के प्रणय के इंगितों पर चलते हैं अतः मेरा स्पर्श भी करना नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में पवन ! मैं उनकी प्यास कैसे बुझा सकता हूँ !

(आचार्य भिक्षु ने कहा—मुनिवरो ! यह कलिकाल है । सारे लोग मूढ़ हो रहे हैं तथा अपने-अपने आग्रहों से प्रतिबद्ध हैं । वे मेरा नाम तक सुनना नहीं चाहते । ऐसी स्थिति में मैं उनके कल्याण के लिए क्या कार्य कर सकता हूँ ?)

उदारारणामन्तःकरणमुचितोत्साहलुलितं,  
पयोदानां प्रायो न हि न हि निराशामभिलषेत् ।  
मुधाधो बिन्दूनामपि न च निपातो हि भविता,  
सकृत्वर्षायोगात्स्थलमपि नवाप्यंकुरवरम् ॥१४॥

पवन ने कहा—मेघ ! उदार व्यक्तियों का अन्तःकरण उचित उत्साहयुक्त होता है । मेघों के लिए निराशा कभी इष्ट नहीं होती । तुम्हारी जो बूंदें नीचे गिरेंगी वे व्यर्थ नहीं जाएंगी । एक बार की वर्षा से भूमि में अंकुर पैदा नहीं होते । नए अंकुर पैदा होते हैं अनेक बार की वर्षा से ।

(मुनिद्वय ने कहा—गुरुदेव ! आप उदार हैं, आप में अपूर्व उत्साह है । आप जैसे परोपकारी व्यक्तियों को निराश नहीं होना चाहिए । आपकी वाणी व्यर्थ नहीं जाएगी । किन्तु एक बार के प्रयास से ऐसा नहीं होगा । आपको अनेक बार प्रयत्न करना होगा ।)

इदानीं विश्वासो दृढतर उपास्ते मम मतिं,  
समर्थस्त्वं भावी महितलमशेषं द्रवयितुम् ।  
ततस्त्यक्त्वोपेक्षां भव भवजवाच्छीकरवरो,  
निधेहीषद्ध्यानं वितर तरसा मोदमतुलम् ॥१५॥

मेघ ! मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि तुम सारी पृथ्वी को आर्द्र करने में समर्थ हो सकोगे । इसलिए तुम उपेक्षा को छोड़कर ठंडी बूंदों के रूप में शीघ्र ही बरसने लगे । तुम मेरी बात पर थोड़ा ध्यान दो और अतुल आनन्द को वितरित करो ।

(आचार्यवर्य ! हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि आप सद् धर्म का प्रचार-प्रसार करने में समर्थ होंगे । लोग आपसे लाभान्वित होंगे । आप निराशा को छोड़ें और लोगों को समझाने का उपक्रम करें । आप हमारी बात पर ध्यान दें और सर्वत्र आनन्द बिखेरने का यत्न करें ।)

अभिज्ञायानन्यं सुहितमरुतो हृद्यविनयं,  
नवां स्फूर्तिं यातोऽभिनवपरिपाटीमधिगतः ।

अगर्जत्पर्जन्योप्यहमनुभवामीति सुतरा-  
मलंकुर्वन्तुच्चैः पुलकितनभःप्राङ्गणमलम् ॥१६॥

अपने अनन्य मित्र पवन की हृदयोत्थित वाणी को सुनकर मेघ में नई स्फूर्ति का संचार हुआ। उसमें नई चेतना आयी। वह गर्जारव करने लगा। 'मैं भी पवन के कथन का अनुभव करूँ'—यह सोचकर मेघ प्रसन्न-मन होकर आकाशप्रांगण में ऊंचा उठ गया।

(आचार्य भिक्षु ने दोनों मुनियों की बात सुनी। उनकी निराशा टूट गई। नई चेतना का संचार हुआ। उन्होंने कहा—'मैं तुम्हारी बात को स्वीकार कर भाज से पुनः प्रचार-जीवन में आ रहा हूँ'—यह कहकर वे प्रवृत्ति-क्षेत्र में आ गए।)

विलोकिष्यन्ते ये स्फुटनयनराजीवयुगला-  
स्तथा ये स्पृक्ष्यन्ति प्रकृतिपुलकाञ्चत्तनुकणाः ।  
कदाचिन् मोक्ष्यन्ते नहि समययोग्यं प्रकरणं,  
ममेदं क्षेत्राणां हितकरमपारश्रममितम् ॥१७॥

विकसित नयनकमल वाले लोग मुझे देखेंगे और वे प्रकृति से पुलकित होकर मेरी बूंदों का स्पर्श करेंगे। मुझे विश्वास है कि वे खेतों के लिए हितकर, अपार श्रम से प्राप्त इस समय-योग्य वर्षा के लाभ को कभी नहीं छोड़ेंगे।

(भिक्षु ने सोचा—लोग मेरा सम्पर्क करेंगे और मेरी वाणी को सुनेंगे। मुझे विश्वास है कि वे धर्म के सही मार्ग को पाकर लाभान्वित होंगे।)

पुनस्तत्रारेभे घनरसकणासारमतुलं,  
चकम्पे सातङ्गं कलिहृदयमालोलगतिकम् ।  
सदाशाबिन्दूनां श्रवणमभिरामं दृशि गतं,  
तदाकारां शान्तिं व्यतरदविरामं तनुभृताम् ॥१८॥

मेघ बरसने लगा। कलिकाल का चपल और भयभीत हृदय कांप उठा। आशा के बिन्दुओं का झरता आंखों के सामने नाचने लगा। वह मनुष्यों को अविराम शान्ति देने लगा।

(भिक्षु ने प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया। लोग आने लगे। विरोधियों के मन शंका से भर गए। उनमें ईर्ष्या पैदा हो गई। आचार्य भिक्षु की वाणी से लोग

आश्वस्त हुए और उन्होंने धर्म का सही मार्ग पाकर अपने आप में अपूर्व शान्ति का अनुभव किया ।)

अपश्यन्नामोदात्त्वरितगतयः केपि सुजना-  
स्तथा स्प्राक्षुः केचिद् विपुलपुलकास्तद्गहनताम् ।  
तथेयुः सामीप्यं कतिचनजनाः सस्मयतया,  
किमेतत् किंवैतत्स्फुरितवचना दृष्टगगनाः ॥१६॥

आकाश में मेघ उमड़ आए। कई सुजन व्यक्ति प्रसन्नतासे उन्हें देखने के लिए शीघ्र ही बाहर आए। कई पुलकित व्यक्तियों ने उन मेघों की गहनता के विषय में पूछताछ की। कई व्यक्ति आश्चर्य से एकत्रित हुए और आकाश की ओर देखते हुए—‘यह क्या है, यह क्यों है’—इस प्रकार वितर्कणा करने लगे।

(आचार्य भिक्षु धर्म का मर्म समझाने लगे। लोगों में कुतूहल हुआ। कई व्यक्ति उनको देखने के लिए आए। कई तत्त्व-विचारणा में उनकी गहनता को परखने लगे और कई व्यक्तियों ने उनके नानाविध परीक्षण किए।)

प्रतिक्षेत्रं भ्राम्यंल्ललितमुदिरो बोधविदुरो,  
वपुस्तप्ति पुंसामहरततमां स्निग्धमधुरः ।  
कलेः कोपो माभूत्सफल इति संचिन्त्य मनसा,  
प्रचक्रे मर्यादां सलिलपटलस्यापि परितः ॥२०॥

सबको प्रबुद्ध करने में निपुण मेघ सभी क्षेत्रों में घूमने लगा—बरसने लगा। उसने अपने स्निग्ध और मीठे जल से प्राणियों के शारीरिक ताप का हरण किया। कलिकाल का क्रोध सफल न हो—यह मन में सोचकर मेघ ने अपने सलिल पटल के चारों ओर घेरा डाल दिया।

(आचार्य भिक्षु गांव-गांव घूमने लगे। उनकी मीठी और सरस वाणी को सुनकर लोगों के मन तृप्त हो गए। उन्होंने अपने संघ-संगठन को दृढ़ करने के लिए मर्यादाओं का निर्माण किया। संघ के चारों ओर मर्यादाओं का घेरा डाल दिया।)

प्रपेदाते तूर्णं नवतरुणिमानं च नयने,  
मुखाम्भोजस्मेरं विकचरदनश्रेणि यदभूत् ।

बभौ पाणेर्युगमं प्रणयनतभालस्थलगतं,  
रसज्ञा संस्तोतुं तमथसहसा स्फूर्तिमगमत् ॥२१॥

वर्षा के कारण प्राणियों की आंखों में नई लालिमा उमड़ आयी। उनके मुख-कमल खिल उठे। दन्तावलि विकचित हो गई। दोनों हाथ जुड़े और ललाट पर लग गए। उस स्थिति का वर्णन करने के लिए जिह्वा स्फुरित हो उठी।

(आचार्य भिक्षु के प्रवचनों से लोगों में नई आशा का संचार हुआ। उनके चेहरे प्रसन्नता से खिल उठे। वे भिक्षु के चरणों में गिर पड़े। सर्वत्र उनकी प्रशंसा होने लगी।)

स भिक्षुर्मेघात्मा ततयशसि विश्वे प्रतिपलं,  
शरीरं त्यक्त्वापि प्रकटमहिमा जीवतितराम् ।  
तदीयं प्राधान्यं तदनुघन एवाभिलषते,  
प्रमाणं तत्रातः परमिह किमस्तु स्फुटमहो ॥२२॥

विश्व में व्याप्त यशवाले वे मेघात्मा भिक्षु शरीर को छोड़कर भी अपनी महिमा द्वारा जी रहे हैं। उनके बारे में होनेवाले मेघ (आचार्य) भी उनकी प्रधानता को चाहते हैं। उनके जीवित होने का इससे अधिक क्या प्रमाण आवश्यक हो सकता है ?

तदाकारस्तद्वल्लसति तुलसीराममुनिप-  
स्तपः पूताकूतः कविहृदय आत्मोन्नतिरतः ।  
सुधाबिन्दुत्सेकात्कलितवसुधाखण्डसुहितो,  
वदान्यः सम्मान्यो गुरुतरगुणैरञ्चितवपुः ॥२३॥

उन्हीं की तरह आचार्य तुलसी शोभित हो रहे हैं। उनका अन्तःकरण तप से पवित्र है। वे कविहृदय हैं और आत्मोन्नति में रत हैं। अपनी वाणी-रूपी सुधा-बिन्दु के सिंचन से उन्होंने पृथ्वी-खंड को तृप्त कर दिया है। वे उदार, सम्मान्य और अनेक वरिष्ठ गुणों से युक्त हैं।

विभुर्मुख्यो वाचाममिततममेधाविमुकुटो  
जयत्तेरापन्थाधिपतिरभिरामं विजयते ।  
पदाब्जे तस्यैव प्रमुदमुपगच्छन्ननुपदं,  
व्यधात्तेरापन्थप्रकृतगुणकाव्यं नथमलः ॥२४॥

१८४ अतुला तुला

वे कुशलवक्ता, विद्वद् शिरोमणी और विकासशील तेरापंथ के अधिपति हैं। मैं मुनि नथमल उनके चरणों में सदा प्रसन्न रहता हूँ। मैंने तेरापंथ के गुण-वर्णन करनेवाले इस काव्य का निर्माण किया है।

(२००२ भाद्रव शुक्ला १३—श्रीङ्गरगढ़)

## ६ : आत्मदर्शन-चतुर्दशकम्

अदृश्याः संदृष्टाः श्रुतमपि हहा ! ऽश्राव्यमनिश-  
मनास्वाद्ये स्वादः सततमनुभूतो जडधिया ।  
असंस्पृश्याः स्पृष्टाः कथमहमहो देव ! विदधे,  
हृदा साक्षात्कारं ध्रुवमिति गतो न स्मृतिमपि ॥१॥

भगवन् ! मैं जड़बुद्धि वाला हूँ। जिसे नहीं देखना चाहिए मैंने उसे देखा, जिसे नहीं सुनना चाहिए उसे सुना, जिसका स्वाद नहीं लेना चाहिए उसका स्वाद लिया और जिसका स्पर्श नहीं करना चाहिए उसका स्पर्श किया। मैं हृदय से आपका साक्षात्कार कैसे करूँ—इसकी मुझे कोई स्मृति भी नहीं रही।

विभावान्निःशेषान् मनसि त्रिनिधातुं प्रतिपलं,  
स्वभावं हा ! हातुं बहुविधमलं यत्नमकृषि ।  
न जानेऽकस्मात्त्वं तदपि हृदये वासमकृथा,  
महान्तो वात्सल्यं जहति न हि कुत्रापि विदितम् ॥२॥

देव ! मैंने अपने मन में सभी विभावों को संजोए रखने के लिए तथा स्वभाव को छोड़ने के लिए बहुत-बहुत प्रयत्न किए हैं। फिर भी न जाने क्यों तुमने अकस्मात् मेरे हृदय में वास कर लिया। हां, यह सच है कि महापुरुष अपने किए हुए वात्सल्य को नहीं छोड़ते।

कियद् रम्यं जातं वसति हृदये त्वं मम सुखं,  
गता दूरं चिन्ता मुकृतसरितः संगमगमम् ।  
यथा त्वां संस्मृतुं मनसि मम संकोचपरता,  
तथाऽत्राऽगन्तुं चेदपि तव ततः क्वासनमिह ॥३॥

देव ! यह कितना अच्छा हुआ कि तुम मेरे हृदय में सुखपूर्वक निवास करते हो। मेरी सारी चिन्ताएं दूर हो गईं और मैं पुण्य की सरिता से जा मिला। जिस

प्रकार तुम्हारा स्मरण करने में मुझे संकोच का अनुभव होता है, वैसे ही मेरे हृदय में आने में तुम्हें संकोच होता तो तुम्हारा निवास मेरे हृदय में कैसे होता?

यस्य त्वं हृदयंगमो विधियुतं तस्यास्ति सार्थं जगद्,  
यस्माद्दूरमुपैसि वासमनिशं व्यर्थं च तस्यास्ति तत् ।  
यस्य त्वं प्रियतां गतः स्थिरमतेस्तस्य प्रियो नाऽपरो,  
यो वा न त्वयि रज्यते खलु स को मुह्यत्यशेषेष्वपि ॥४॥

देव ! तुम जिसके हृदय में स्थित हो गए, उसके लिए यह जगत् सार्थक है और तुम जिसके हृदय से दूर हो गए, उसके लिए यह जगत् अर्थहीन है। देव ! जिसके तुम प्रिय बन गए, उस स्थिरमति के लिए दूसरा कोई प्रिय नहीं रहता। जो तुममें रक्त नहीं होता वह दूसरी सभी वस्तुओं में आसक्त हो जाता है।

नष्टा मोहविडम्बना क्षणभरात्स्पष्टा च चेतःस्थली,  
साक्षात्कारमुपागतः सफलतां याता च हृत्लालसा ।  
तत्कष्टान्यपि सत्करोमि सुतरां पर्याप्तमेतैः सुखै-  
र्यैर्जाता तव विस्मृतिश्चिरमहो मोहः समुज्जृम्भितः ॥५॥

भगवन् ! मैं उन कष्टों का सत्कार करता हूँ, जिनके कारण मेरा मोह नष्ट हो गया; मेरा चित्त प्रसन्न हो गया; मुझे आपका साक्षात्कार मिला और मेरी मनोकामना सफल हुई। उन सुखों से क्या, जिनके कारण मैं आपको भूल गया और मेरे में मोह का उदय हो आया।

वेपन्ते तरवोऽरुणा दशदिशो भूः कम्पते भूरिशः,  
सर्वेऽमी भुवनोदरे प्रसृमरा भावाः क्षणे भंगुराः ।  
कामा मानसजा अमी विषसमाः कोऽन्यः शरण्यो मम,  
बन्धो ! दीनजनस्य हे ! शिशुमिमं मां पाहि पाहि प्रभो ! ॥६॥

भगवन् ! सारे वृक्ष कंपित हो रहे हैं। दसों दिशाएं लाल हो रही हैं। बार-बार भूचाल हो रहा है। संसार के ये सारे पदार्थ क्षणभंगुर हैं। मन में उत्पन्न होने वाली कामवासना विष के समान है। ऐसी स्थिति में देव ! आपके सिवाय मुझे दूसरा कौन शरण दे सकता है? हे दीनबन्धु ! इस बालक की आप रक्षा करें।



दृष्ट्या हे ! मम देव ! विश्वमखिलं पश्यामि भूयो यया,  
 द्रष्टुं त्वां च तयैव भूरि यतितं हा ! मर्मशून्यं मया ।  
 तेनैवाऽसफलः सदा समभवं जातं न ते दर्शनं,  
 दिष्ट्या सांप्रतमस्मि लब्धसरणिर्मा पाहि पाहि प्रभो ! ॥७॥

भगवन् ! मैंने जिस दृष्टि से सारे विश्व को देखा उसी दृष्टि से आपको देखने का बार-बार प्रयत्न किया, किन्तु मैं सदा असफल ही रहा। मुझे आपके दर्शन प्राप्त नहीं हुए। मैंने मर्म को नहीं जाना। किन्तु प्रभो ! भाग्य से अब मुझे मार्ग मिल गया है, आप मेरी रक्षा करें।

के दोषाश्च गुणाश्च के न सुलभो लोके विवेकोऽप्ययं,  
 किं वा तोलयितुं श्रमं सृजसि रे लोकानिमान् मूढधीः ! ।  
 यत्कुर्वे च ममप्रियोऽपि कुरुते सर्वं च तद् रोचते,  
 यत्र प्रेमलवो न तस्य बत ! मे सर्वा क्रियाप्यप्रिया ॥८॥

दोष क्या हैं और गुण क्या हैं ?—यह विवेक होना सुलभ नहीं है। हे मूढ बुद्धिवाले ! तू इन मनुष्यों को तोलने का क्यों व्यर्थ श्रम कर रहा है ? जो कुछ मैं करता हूँ और मेरा प्रिय व्यक्ति करता है, वह सब मुझे रुचिकर लगता है। जिसके प्रति मेरा तनिक भी प्रेम नहीं है, उसकी सारी क्रियाएँ मुझे अप्रिय लगती हैं।

स्वामिन् ! मे तव दर्शनाद् मतिरियं स्याद् वीतरागाऽचिरं,  
 दोषान् यत्सुहृदो गुणान्सुहृदो द्रष्टुं भवेयं क्षमः ।  
 नो नो दुर्हृदयं तथा सुहृदयं भेदोऽप्ययं नश्यतात्,  
 संतोषोऽपि न नाम सर्वविषये श्लाघ्यो यतः पंडितैः ॥९॥

भगवन् ! आपके दर्शन से मेरी बुद्धि वीतराग हो जाए और तब मैं मेरे मित्रों के दोषों को और शत्रु के गुणों को देखने में सक्षम हो सकूँ। यह मेरा मित्र है और यह शत्रु—यह सारा भेद ही नष्ट हो जाए। विद्वानों का यह अभिमत है कि सभी विषयों में संतोष कर लेना श्लाघ्य नहीं होता। (अध्यात्म में प्रगति करने के लिए असंतोष होना ही चाहिए)।

चक्षुर्बाधकमस्ति बाधनपरा जिह्वा रसे लपटा,  
 श्रोत्रे स्तः श्रवणप्रिये त्वगर्षि हा ! स्पर्शं भृशं रज्यते ।

चेतश्चंचलतां गतं बहुविधं नो बोधितं बुध्यते,  
प्रत्यूहास्तव दर्शने ह्यगणितास्त्वां यामि केन प्रभो ? ॥१०॥

भगवन् ! आपके दर्शन में अनगिन बाधाएं हैं। मेरे ये चक्षु बाधक हैं। यह रसलोलुप जीभ भी बाधक है। मेरे ये कान वैभाविक नाद सुनने के रसिक हैं और मेरा त्वग् इन्द्रिय-स्पर्श में अनुरक्त है। मेरा चित्त चंचल है। उसे बहुत प्रकार से समझाने-बुझाने पर भी वह अनुशासित नहीं होता। देव ! फिर मैं आप तक कैसे पहुंचूं ?

दुःसाध्या रुज उद्भवन्ति बहुला अब्रह्मणां देहिनां,  
ज्ञातं ज्ञातमिति प्रकाममथ किं स्यान् ज्ञानमात्रेण रे।  
जिह्वा नो वशिनी न संयमपरं चक्षुर्न चैकान्तता,  
दास्यं नो मनसो विमुक्तमथ तत्त्यक्तुं कथा सा वथा ॥११॥

अब्रह्मचारी मनुष्यों में अनेक दुःसाध्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं—यह जान लिया है, अच्छी तरह से जान लिया है। किन्तु जानने मात्र से क्या हो। जीभ वश में नहीं है। न चक्षु संयत हैं और न एकान्तवास है। मन की दासता से भी मुक्ति नहीं मिली है। अब्रह्मचर्य को छोड़ने की कथा वृथा-सी हो रही है।

अस्माकं हा ! समयकृपया वक्रजाड्यं गतानां,  
धर्मः शोध्यस्तदपि विधिवद् दुष्करं पालनीयः।  
अस्तु ज्ञानं रचितरुचिराचारमात्मानुभावात्,  
साम्यं योगो मनसि रमतां निविकारे विनीते ॥१२॥

काल की कृपा से इस युग के हम मुनि वक्रजड हैं। हमारे लिए धर्म का ज्ञान सुलभ है किन्तु उसका विधिवत् आचरण सुलभ नहीं है। प्रभो ! हमारी आत्मशक्ति जागे जिससे हमारे ज्ञान और आचार की दूरी पट जाए और हमारे विनीत और निविकार मन में साम्ययोग रमण करे।

वार्तायां बहुधा श्रुतं सुपठितं शास्त्रेषु चानेकशो,  
यद् ब्रह्मव्रतपालनं तनुभृतां स्यात् सर्वतो दुष्करम्।  
इत्येवं श्रवणेन सश्रवणकं जातं मनो दुर्बलं,  
त्वद्भवतः सुकर न किं हृदयगस्त्वं यस्य चैकान्ततः ॥१३॥

भगवन् ! मैंने बहुत बार सुना है और शास्त्रों में पढा है कि मनुष्यों के लिए

ब्रह्मचर्य का पालन सबसे अधिक दुष्कर होता है। ऐसा सुन-सुनकर कान और मन—दोनों दुर्बल हो गए। देव ! आप जिनके हृदय में अभिन्न रूप से निवास करते हैं उन भक्तों के लिए कौन-सी वस्तु सुकर नहीं होती ?

त्वं पारदर्शीत्यमुना प्रलुब्धो,  
जातोसि रे ! मे व्यवधानहेतुः ।  
पश्यामि पारं प्रियमात्मबुद्ध्या,  
नायामि नायाति स एष मां माम् ॥१४॥

‘तुम पारदर्शी हो’—मैं इस बात से ठगा गया और तुम मेरे लिए व्यवधान के हेतु बन गए। मैं आत्मबुद्धि के द्वारा उस पार को देखता हूँ, पर उस तक पहुँच नहीं पाता और न वह मेरे पास आ रहा है।

(वि० सं० २००५ छापर)

## ७ : भक्तिविनिमयः

गृहीत्वा प्रब्रज्यामकृत निजचेतोवितरणं,  
तदानीं प्रत्यादाद् गुरुवरमनोवृत्तिममलाम् ।  
अदादक्ष्णोः स्फूर्तिं पुनरलभताऽनन्तकरुणा-  
मिदं भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन् ! वा क्रयविधिः ? ॥१॥

दीक्षा ग्रहण कर, आपने अपना मन गुरु को दे डाला और बदले में गुरु की पवित्र मनोवृत्ति को पा लिया। आपने आंखों की स्फूर्ति दी और बदले में गुरु की अनन्त करुणा प्राप्त की। भगवन् ! यह भक्ति है या विनिमय ?

अकार्षीच्छ्रद्धेयां विनयपरिपाटीं गुरुपदे,  
द्रुतं प्रापद् रम्यां महिमपरिपाटीं गुरुपदाम् ।  
व्यधाद् भक्तितं हृद्यामभजत विभक्तितं मुनिपदा-  
दिदं भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन् ! वा क्रयविधिः ? ॥२॥

आपने गुरु के प्रति श्रद्धायुक्त विनय का प्रयोग किया और बदले में सुरम्य तथा विशाल महिमा के स्थान को प्राप्त कर लिया। आपने गुरु के प्रति हृदय से भक्ति दिखाई और आप मुनिपद से विभक्त हो गए—आचार्य बन गए। भगवन् ! यह भक्ति है या विनिमय ?

विचारस्वातन्त्र्यं न हि निरवहत् क्वापि किमपि,  
विचाराः स्वाधीनाः स्वयमहह जाता गुरुगताः ।  
अगच्छत्स्वच्छात्मानुपदमभवत्तत्पदपति-  
रिदं भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन् ! वा क्रयविधिः ? ॥३॥

विचारों की स्वतन्त्रता कहीं भी नहीं बरती, किन्तु आज गुरुगत सारे विचार स्वतन्त्र हो गए। आप अपने गुरु के पद के पीछे-पीछे चले और आज उनके पद के स्वामी हो गए। भगवन् ! यह भक्ति है या विनिमय ?

लघुत्वं पादाब्जे प्रयुतमथ लब्धा सुगुरुता,  
 नियोगोप्याराधि प्रथितसुनियोगिप्रणिनुतः ।  
 सदा सेवाऽसाधि प्रचुरमतिनैवं प्रतिपल-  
 मिदं भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन् ! वा क्रयविधिः ? ॥४॥

आपने अपनी लघुता गुरु के चरण-कमलों में समर्पित की और बदले में गुरुता पा ली। आपने आदेश की आराधना की और आज बड़े-बड़े आदेश देने वालों के द्वारा संस्तुत हैं। आप प्रचुरमति वाले हैं। आपने इस प्रकार सदा सेवा की है। भगवन् ! यह भक्ति है या विनिमय ?

यथा तत्स्थानस्याप्रतिममहिमानं प्रकुरुते,  
 तथा स्वस्यौन्नत्यं रचयति विरञ्चेरविषयः ।  
 उपायो रम्योऽयं करतलगतस्ते मुनिपते !,  
 गुरोर्भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन् ! वा क्रयविधिः ? ॥५॥

जैसे आप अपने गुरु के स्थान की अप्रतिम महिमा बढ़ाते हैं वैसे ही आप अपनी उन्नति इस प्रकार कर लेते हैं कि विधाता भी उसे नहीं जान पाता। मुनिपते ! आपको यह अच्छा उपाय हाथ लगा। भगवन् ! यह गुरु-भक्ति है या विनिमय ?

यशोगाथां कालोः कलयति च काव्ये परिषदि,  
 यशोगाथागानं भवति भवतस्तावदतुलम् ।  
 महत्त्वं काव्यस्थं वचनगतमावर्भवति च,  
 गुरोर्भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन् ! वा क्रयविधिः ? ॥६॥

आप परिषद् में श्रीमत् कालूगणि का यशोगान करते हैं। वह आपका अतुल यशोगान बन जाता है। कविता में सन्निहित महत्त्व वचन में आकर अभिव्यक्त होता है। भगवन् ! यह गुरु-भक्ति है या विनिमय ?

करिष्यत्यानन्दोद्भवमखिलसंघस्य सुतरां,  
 हरिष्यत्याभां तामपि तदनुगोऽशोकतरुजाम् ।  
 भविष्यत्युद्वेलो गणजलधिरात्मा हि भवतो,  
 गुरोर्भक्तेस्तत्त्वं विहितमिह तद् यच्च भवता ॥७॥

आप सम्पूर्ण संघ में आनन्द की सृष्टि करेंगे और अपने गुरु का अनुसरण

करते हुए अशोक वृक्ष की आभा का अनुहरण करेंगे—जैसे अशोक वृक्ष अपने नीचे बैठे व्यक्ति को शोक-रहित कर देता है, वैसे ही आप सबको शोक-रहित कर देंगे। इस प्रकार करने से गण-समुद्र की वेला उन्नत होगी, जो कि आपकी आत्मा है। भगवन् ! आपने गुरु-भक्ति के तत्त्व की उचित प्रतिपत्ति की है।

इयं सेवावृत्तिः परमगहना सेति भणिति-  
 भवत्कृत्यं लक्ष्याङ्गणसु रममाणं कृतवती।  
 ततः ख्यार्तिं प्राप्तानुमितिरिति मे ही फलवती,  
 गुरोर्भक्तेस्तत्त्वं विहितमिह तद् यच्च भवता ॥८॥

सेवावृत्ति परम गहन होती है—उस उक्ति ने आपके कृत्य को लक्ष्य के प्रांगण में क्रीड़ा करते हुए पाया है। इससे मेरा अनुमान प्रसिद्ध हो चुका है कि भगवन् ! आपने गुरु-भक्ति के तत्त्व की उचित प्रतिपत्ति की है।

(वि० सं० २००५ पट्टोत्सव, छापार)

## ८ : महावीराष्टकम्

उन्नता चरणे श्रद्धा,  
वृद्धा सा पापकर्मणि ।  
सन्नद्धा स्वात्मसंज्ञाने,  
देव ! भूयात् सदा मम ॥१॥

देव ! तुम्हारे चरणों की उपासना करने के लिए मेरी श्रद्धा उन्नत, पाप-  
कारी कार्यों के प्रति वृद्ध तथा आत्म-संज्ञान के लिए सदा तत्पर हो ।

सत्कृतो वाऽसत्कृतो वा,  
त्वया स्यां स्यां न वा पुनः ।  
वीतरागो यतोऽसि त्वं,  
त्वं सदा सत्कृतो मया ॥२॥

देव ! तुम्हारे द्वारा मैं सम्मानित होऊँ या असम्मानित होऊँ, इसमें कोई  
बात नहीं है क्योंकि तुम वीतराग हो । किन्तु तुम मेरे द्वारा सदा सम्मानित हो ।

स्नेहार्द्रैश्चक्षुषोर्वाष्पैः,  
क्षालितौ चरणौ तव ।  
क्षालयेराकृतिं नाप्त-  
श्चापि मे मानसं मलम् ॥३॥

प्रभो ! मैंने आंखों के स्नेहार्द्र आंसुओं से तुम्हारे चरणों का प्रक्षालन किया  
है । किन्तु तुम मूर्त बनकर भी मेरे मानस-मल का प्रक्षालन नहीं करते ।

अदृश्यो यदि दृश्यो न,  
भक्तेनाऽपि मया प्रभो !

स्याद्वादस्ते कथं तर्हि,  
भावी मे हृदयंगमः ॥४॥

प्रभो ! मैं भक्त हूँ। तुम अदृश्य हो किन्तु मेरे लिए भी यदि दृश्य नहीं बनते हो तो तुम्हारा स्याद्वाद मेरे द्वारा कैसे हृदयंगम होगा ?

अर्पयामि मनोभावं,  
ग्राह्यं विनिमये किमु ।  
हा ! बुद्धोस्मि क्षणेनापि,  
फलाशा दोषदाऽर्पणे ॥५॥

देव ! मैं अपना मनोभाव तुमको अर्पित करता हूँ किन्तु विनिमय में तुम मुझे क्या दोगे ? ओह ! क्षण में ही मैंने जान लिया कि 'अर्पण में फलाशा करना दोष-प्रद है।'

तवाहमिति मे बुद्धिः,  
त्वं ममेत्यपि सादरम् ।  
परे जानन्तु मा वा किं,  
साक्ष्यापेक्षोऽसि सर्ववित् ! ॥६॥

मैं मानता हूँ कि मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो। दूसरे इसे मानें या न मानें, किन्तु सर्ववित् ! क्या तुम्हारे सामने भी इसका साक्ष्य देना होगा ?

किं करोमि तवाऽर्थं हे,  
देव ! नापेक्ष्यतामिति ।  
ममार्थं किं विधाताऽसि,  
ममापेक्षा महीयसी ॥७॥

हे देव ! मैं तुम्हारे लिए क्या करता हूँ इसकी तुम अपेक्षा न करो। किन्तु मेरी यह महान् अपेक्षा है कि तुम मेरे लिए क्या करते हो ?

कर्तृत्वमात्मनोऽपास्य,  
भक्तानां किं करिष्यसि ।  
यत्कृतं तत्कृते हेतु-  
र्भवेः स्यां सदृशस्तव ॥८॥



देव ! तुम्हारा कर्तृत्व दूसरों के लिए नहीं है, फिर भी तुम भक्तों के लिए क्या करोगे ? तुमने जो किया है, वही मैं करूँ। तुम केवल उसके निमित्त बन जाओ, मैं अपने आप तुम्हारे जैसा हो जाऊँगा।

(वि० सं० २००७ कार्तिक कृष्णा १४—हांसी)



पञ्चमो विभागः

# स्तुतिचक्रम्



## १ : जैनशासनम्

यत्स्याद्वादसुयोधनैरुपशमं नीता विरोधव्यथा,  
वीराणामुचितं विराजतितमां यस्मिन्नहिंसा ध्रुवम् ।  
यद्दृष्टिः समतामयी स्फुरति वा जीवेषु सर्वेष्वपि,  
स्वस्तिश्रीजिनशासनाय सततं तस्मै विशुद्धात्मने ॥१॥

जिसने स्याद्वाद के शस्त्र से विरोध की व्यथा को उपशान्त कर डाला, जिसमें वीरोचित अहिंसा का विधान है, जिसमें समस्त जीवों के प्रति समता की दृष्टि विद्यमान है, उस विशुद्धात्मा जैन शासन का सतत कल्याण हो ।

ज्ञानं श्रद्धा चरणमनघञ्चार्हतीयं त्रयीह,  
साङ्गोपाङ्गा लसति सुमतिर्यत्र भव्यस्वभावा ।  
सत् स्याद्वादो नयननयनो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः,  
प्राज्ञैः पूज्यो मुनिपतुलसीः स्वस्ति तस्मै गणाय ॥२॥

जिसमें सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र्य—यह रत्नत्रयी विद्यमान है, जिसमें भव्य स्वभाववाली सांगोपांग सन्मति विराजमान है, जिसमें सत् स्याद्वाद, चक्षु का चक्षु जिनेन्द्र वर्द्धमान तथा विद्वत्-पूज्य आचार्य तुलसी हैं—उस भिक्षव गण का कल्याण हो ।

येनाज्ञानमपाकृतं वृतमपि ज्ञानं ततोऽनन्तगं,  
तच्छ्रीवीरजिनेशितुर्व्यपमले जैनाह्वये शासने ।  
स्याद्वादो लषतेऽभटो हि सुभटोऽहिंसाहवे स्फूर्तिमान्,  
आचारोऽपि विचारवान् फलति तत्स्यान् मंगलं मंगलम् ॥३॥

जन्होंने छिपे हुए अज्ञान को दूर कर अनन्त ज्ञान को पा लिया, उन श्रीवीर जिनेन्द्र के पवित्र जैन शासन में स्याद्वाद प्रदीप्त हो रहा है । वह ऐसा सुभट है कि जिसके प्रतिपक्ष में कोई भट नहीं है । वह अहिंसा के युद्ध में ही स्फूर्तिमान्

होता है। जिसकी मर्यादा में आचार भी विचार युक्त होकर फलित होता है, उस शासन का मंगल हो।

यत्राहिंसा स्फुरति सततं भावनानां विशुद्ध्यै,  
यत्राशुद्धिर्जति विलयं भावनानां विशुद्धौ ।  
साम्यं यत्र श्रयति सुषमां सर्वजीवेषु कामं,  
जैनं गच्छत्युदयमनघं शासनं तत्र तत्र ॥४॥

जहां भावना की विशुद्धि के लिए अहिंसा निरन्तर स्फुरित होती है, जहां भावना की विशुद्धि में सारे दोष नष्ट हो जाते हैं, जहां सर्वजनों के प्रति समता की सुषमा प्रस्फुरित होती है, वहां-वहां पवित्र जैन शासन उदित होता है।

कल्याणाय समस्तविश्वमधुना कांक्षापरं विद्यते,  
व्याप्तं किन्तु विभाति तत्र बहुलं ध्वंसोद्भवं साध्वसम् ।  
हिंसाभीतिरियं भवेद् विगलिता स्यान्निरभयं मानसं,  
जैनं शासनमित्यमुद्यमरतं स्याच्छ्रेयसे सर्वतः ॥५॥

आज समूचा विश्व कल्याण का आकांक्षी है किन्तु विनाश से उत्पन्न भय सर्वत्र व्याप्त है। हिंसा का यह भय विगलित हो और सबका मानस निरभय बने। जैन शासन इस ओर प्रयत्नशील बनकर सबके कल्याण के लिए कार्य करे।

तुल्लो अतुल्लो न ह्य अत्थि कोवि,  
सन्तो असन्तो वि न अत्थि कोवि ।  
सावेक्खदिट्ठं परमत्थि दिट्ठं,  
सावेक्खदिट्ठि कुणउप्पसत्थं ॥६॥

संसार में तुल्य और अतुल्य कुछ भी नहीं है, सत् और असत् कुछ भी नहीं है। सापेक्षदृष्टि से जो दृष्ट है वही वास्तव में दृष्ट है। इसलिए सापेक्षदृष्टि को प्रशस्त करो।

यस्मिन् पौरुषमर्हति प्रतिपदं रेखां स्फुटां नूतनां,  
यस्मिन् सर्वसमानता प्रतिपदं सवान् समाकर्षति ।  
यस्मिन्नुच्छलति प्रकाममभयं भीतानभीतान् सृजन्,  
तस्याणुव्रतदर्शनस्य लषतां रत्नत्रयी पावना ॥७॥

जिसमें पौरुष पग-पग पर नई रेखाएं सृजन करता है, जिसमें सर्वसमानता का सिद्धान्त सबको आकृष्ट करता है, जिसमें उत्कृष्ट अभय है और भयभीत को अभय बनाने की क्षमता है, उस अणुव्रत दर्शन की यह पवित्र रत्नत्रयी—श्रम, समता और अभय सदा फले-फूले ।

यस्मिन्नाग्रहबिन्दवो निपतिता लीना विलीना नये,  
यस्मिन् यात्यसहिष्णुता प्रशमनं वैचारिकी प्रोद्धता ।  
यस्मिन् मानवता प्रयाति समतां जात्यादि भेदोज्झिता,  
तज्जैनं मनसोनुशासनपरं स्याच्छासनं स्वासनम् ॥८॥

जिस विचारधारा की नयपद्धति में आग्रह के बिन्दु पड़कर लीन हो जाते हैं, जिसमें वैचारिकी असहिष्णुता और उद्धता उपशान्त हो जाती है और जिसमें मानवता जाति आदि का भेद त्यागकर समतामय हो जाती है, वह मन पर अनुशासन करने वाला जैन-शासन अपना आसन बने—आधार बने ।

## २ : महावीरो वर्द्धमानः

मैत्री सर्वजगद्गता विषमता संचिच्छन्नमूला यतः,  
स्वातन्त्र्यं स्वगतं प्रकाशमभजत् शक्तिं स्वकीयां विदत् ।  
जातिं लिङ्गमुपेक्ष्य शक्तिमनयद् धर्मः प्रसारोचितां,  
तस्माद् वीरजिनाज्जगत् प्रतिपलं ज्योतिः रमां स्कन्दताम् ॥

भगवन् महावीर के कारण मैत्री सर्वजगत् व्यापी हो गई । विषमता मूल से ही उखड़ गई । स्वतन्त्रता को अपनी शक्ति का भान हुआ और उसे प्रकाश मिल गया । धर्म ने जाति और लिंग की उपेक्षा कर प्रसारोचित शक्ति प्राप्त की । उन वीर भगवान् से यह जगत् ज्योति और सम्पदा को सदा प्राप्त करे ।

यः स्याद्वादी वदनसमये योष्यनेकान्तदृष्टिः,  
श्रद्धाकाले चरणविषये यश्च चारित्रनिष्ठः ।  
ज्ञानो ध्यानी प्रवचनपटुः कर्मयोगी तपस्वी,  
नाना रूपो भवतु शरणं वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥२॥

जो बोलने के समय स्याद्वादी, श्रद्धाकाल में अनेकान्तदृष्टि वाले और आचरण-काल में चारित्रनिष्ठ हैं तथा ध्यानी, प्रवचन-पटु, कर्मयोगी और तपस्वी हैं—इस प्रकार नानारूप वाले वर्द्धमान शरणदाता हों ।

आलोकेन प्रसृमररुचोद्भासितं येन गूढं,  
रूढा श्रद्धा कुमत्तविततोन्मूलितोल्लासपूर्वम् ।  
स्याद्वादोत्सः प्रभवमगमद् यस्य साम्याचलोच्चात्,  
स श्रीवीरः प्रगतिसरणौ स्फूर्तिहेतुः प्रभूयात् ॥३॥

जिन्होंने प्रसरणशील प्रकाश से हृदय को आलोकित किया, जिन्होंने कुमत्त से विस्तृत रूढ़ श्रद्धा को उल्लास पूर्वक उन्मूलित किया, जिनके समता-पर्वत



से स्याद्वाद का उत्स प्रवहमान हुआ, वे श्री महावीर सुगति के मार्ग में स्फूर्ति के हेतु बने ।

यं लोकाः समुपासते शिवधिया कर्मक्षये दक्षिणं,  
यं ब्रह्मेति जना भजन्ति सततं चारित्रसम्पादकम् ।  
यं नारायणभावतश्च दधते स्याद्वादपाथोधिगं,  
विश्वात्मा भगवान् पुनानु सकलान् वीरो जिनेन्द्रो महान् ॥४॥

कर्मक्षय में निपुण होने के कारण लोग जिसको शिवरूप में उपासना करते हैं, चारित्र का संपादन करने के कारण लोग ब्रह्मा के रूप में जिसकी सेवा करते हैं और स्याद्वाद-समुद्र का अवगाहन करने के कारण लोग जिसको नारायण के रूप में धारण करते हैं वह विश्वात्मा भगवान् जिनेन्द्र महावीर सबकी रक्षा करे ।

ज्ञातं येन प्रवरमतिना नात्मनो ज्ञानमन्यद्,  
दृष्टं येनाऽप्रतिहतदृशा नात्मनो दृश्यमन्यत् ।  
स्पृष्टं येनाऽमलकमनसा नात्मनः स्पृश्यमन्यद्,  
आत्माद्वैतः फलतु स महान् वर्द्धमानो नगेशः ॥५॥

जिस प्रवरमति वाले महावीर ने आत्म-ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं जाना, जिसने अप्रतिहत दृष्टि से आत्मा के सिवाय दूसरा कोई दृश्य नहीं देखा, जिसने पवित्र मन से आत्मा के अतिरिक्त दूसरा स्पृश्य नहीं माना, वह वर्द्धमानरूपी आत्माद्वैत का महान् वृक्ष सतत फलवान् हो ।

श्रद्धाभूमौ वपतु विमलं बीजमाचारवल्ल्याः,  
सम्यग्ज्ञानोदकपृषतकैः सिञ्चतु स्त्यानदृष्ट्या ।  
एषा मुक्तिः कृषिसुकुशले भारते येन गीता,  
शश्वद् गेयो भवति भगवान् वर्द्धमानो धृतात्मा ॥६॥

लोग श्रद्धा की भूमि में आचार की वल्ली का विमल बीज बोएं और उसे सघनदृष्टि से सम्यग् ज्ञानरूपी पानी की बूंदों से सींचें । कृषि-प्रधान भारत में जिस व्यक्ति ने इनकी युक्ति का शश्वद् गान किया, वह है धृतात्मा भगवान् वर्द्धमान् ।

युक्तात्मा ज्ञातपुत्रो जगति मनसः सर्वयोगैर्विमुक्तः,  
शब्दात्मा व्यक्तरूपः सहजसुषमोऽव्यक्तरूपो निजात्मा ।

नित्यानित्यादिभङ्गानविकलकलानाकलय्याप्तचक्षु-

मूर्त्तामूर्त्तस्वरूपो भवतु भगवान् सिद्धये वर्द्धमानः ॥७॥

मुक्तात्मा ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर मन की समस्त प्रवृत्तियों से मुक्त हो गए। उनकी जो स्व-आत्मा है वह सहज सुषमायुक्त तथा अव्यक्तरूप है और जो शब्दात्मा है वह व्यक्तरूप है। वे पदार्थ के नित्य-अनित्य आदि विकल्पों को समस्तरूप से ग्रहण कर आप्तदृष्टिवाले हो गए। मूर्त और अमूर्त स्वरूप वाले भगवान् वर्द्धमान सिद्धि के लिए हों।

### ३ : आचार्यस्तुतिः

त्वय्यासक्तो भवति भगवन् ! नैष लोको हि रक्तो,  
रक्तोऽन्यस्मिन् भवति सहसा त्यक्त एव त्वयाऽपि ।  
पक्षोपक्षिण्यपि भवति यत्तद् विचित्रं क्व चित्रं,  
रङ्गाजीवो नभसि न नयेत्तूलिकां रङ्गलिप्ताम् ॥१॥

भगवन् ! जो व्यक्ति आप में आसक्त हो जाता है, वह दूसरों में रक्त नहीं होता। जब वह आपसे त्यक्त होता है, तभी वह दूसरे पदार्थों के प्रति रक्त होता है। जो अपक्षपाती है उसमें भी यदि पक्षपात होता है तो वह आश्चर्य है। चित्रकार रंग से लिप्त अपनी तूलिका को शून्य आकाश में न चलाए इसमें आश्चर्य ही क्या है।

सदुत्साहाहूतः पथि पथि नयन् सत्कृतिभरं,  
प्रतीक्षामारूढो हृदयशुभभावैः परिवृतः ।  
वितन्वन्नामोदं प्रवरतरकाव्यैरभिहितः,  
समायातः सश्रीतुलसिगणिपट्टोत्सव इव ॥२॥

आज आचार्य तुलसी का पट्टोत्सव है। वह सद् उत्साह से आमंत्रित, पग-पग पर सत्कार का भार वहन करता हुआ, प्रतीक्षा के पंखों पर आरूढ़, हृदय के शुभ भावों से परिवृत, आमोद को बिखेरता हुआ और सुन्दर काव्य-कल्पनाओं से वर्णित है।

गतिं धर्मोऽधर्मः स्थितिमिव नभो वाश्रयमिव,  
ददत्संघस्योच्चैः समय इव सञ्चालनपरः ।  
प्रयच्छन् व्यापारं सकलमपि वा पुद्गल इवा-  
नुभूतिं चैतन्यं ध्रुवमिह जयन्नस्ति तुलसीः ॥३॥

आचार्य तुलसी विश्व-निर्माण के घटक छह तत्त्वों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे धर्मास्तिकाय के रूप में संघ को गतिशील, अधर्मास्तिकाय के रूप में स्थिति

मान्, आकाशास्तिकाय के रूप में आश्रययुक्त बना रहे हैं। वे काल के रूप में संघ को संचालित और पुद्गल के रूप में विभिन्न प्रवृत्तियों से व्यापृत कर रहे हैं। वे चैतन्य के रूप में अनुभूति दे रहे हैं। इस प्रकार उनका कृति-कौशल उन्हें विजयी बना रहा है।

छायायां विस्तृतायां त्वत्,  
कीर्त्तिलोकेऽखिले विभो ! ।

शनैश्चरोऽभवच्छाया-

मुतो ज्ञातुं स्वमातरम् ॥४॥

देव ! सम्पूर्ण विश्व में आपकी कीर्ति की छाया इतनी विस्तृत हो गई कि छाया का पुत्र (शनैश्चर) भी अपनी मां छाया को पहचानने के लिए धीरे-धीरे चलने लगा—शनैश्चर हो गया।

रतिः प्रिया मेऽस्य महामतेरपि,  
पञ्चाशुगाः पञ्चयमाश्च पत्रिणः ।  
पौष्प धनुः शान्तिधनुर्मदुव्रतं,  
भीरुर्जरायाश्च विभेत्यसावपि ॥५॥

स्यां शंवरान्द्रोपि च संवरध्वजः,  
स्यां शंवरद्वेष्यपि संवराहितः ।  
महोत्सवोऽहं च महोत्सवोप्ययं,  
विश्वं विजेतुं च समुत्सुकावुभौ ॥६॥

साम्येक्षणादित्यमयं सहायको,  
ममेति बुद्ध्या न मया ह्युपद्रुतम् ।  
अथाधुना लब्धसमग्रविक्रमो,  
वशंवदः स्यादिति मे न दृश्यते ॥७॥

समूलमुन्मूलयितुं च चेष्टनं,  
विधोयते प्रत्युत हाह ! मामपि ।  
योहं न शक्रादिभिरेव वञ्चितः ।  
स विप्रलब्धोऽस्मि महात्मनाऽमुना ॥८॥

कामदव न आचार्यतुलसी से तुलना करते हुए सोचा—‘रति मेरी प्रिया है और इन महामति के भी रति (संयम में रति) प्रिया है। मेरे पांच बाण हैं तो इनके भी महाव्रत रूपी पांच बाण हैं। मेरा धनुष्य पुष्प से निष्पन्न है तो इनका धनुष्य शांति और मृदुता से निष्पन्न है। मैं बुढ़ापे से भयभीत हूँ तो ये भी बुढ़ापे से भयभीत हैं। मेरा चिह्न शंवर (मत्स्य) है और इनका चिह्न भी संवर है। मैं शंवर (एक राक्षस) का शत्रु हूँ और ये संवर—शरीर के शत्रु हैं। मैं भी महोत्सव हूँ और ये भी महोत्सव हैं। हम दोनों विश्व (में सम्पूर्ण प्राणी-जगत् को और ये सम्पूर्ण इन्द्रिय-जगत्) को जीतने के लिए उत्सुक हैं।’ इस प्रकार मेरी और इनकी समता है। यह सोचकर मैंने इनको अपना सहायक माना और इन्हें उपद्रुत—पीड़ित नहीं किया। आज ये पूर्ण पराक्रम-युक्त हो गए, अतः ये मेरे वश में नहीं आ सकते। अरे ! ये तो मुझे समूल उखाड़ने के लिए प्रयत्नशील हैं। मैं इन्द्र आदि से भी नहीं ठगा गया किन्तु इन महामना से ठगा गया हूँ।

कलावतां स्यात् प्रथमोऽयमर्च्यो-  
स्म्यहं द्वितीयस्त्विति चिन्तयार्त्तः ।  
चन्द्रोस्ततन्द्रो भ्रमति ह्युषापि,  
क्षीणः पुनस्तत् प्रकटीकरोति ॥६॥

चन्द्रमाने सोचा—‘आचार्य तुलसी कलावान् व्यक्तियों में प्रधानरूप से पूजनीय हैं और मेरा स्थान दूसरा है क्योंकि मेरी पूजा द्वितीया को होती है।’ उसकी नींद उड़ गई और वह रात को भी इधर-उधर भटकने लगा। वह क्षीण होता है, उपचित होता है। यह क्रम चलता जाता है।

अन्ये गुणाः स्युस्त्वयि भूरयोऽपि,  
नयानुगा तत्र ममापि दृष्टिः ।  
स्तोष्येऽहमद्य क्रमयुगममेव,  
यदास्पदं मे मनसे ददाति ॥१०॥

आपमें और-और भी अनेक गुण हैं। मेरी दृष्टि भी अब नीति की अनुगामिनी हो गई है। अब मैं आपके चरण-युगल की ही स्तवना करूंगा क्योंकि वह मेरे मन को आधार दे रहा है।

केचिद् विशालं हृदयं मनन्ति,  
केचिन् मनः के च लसल्ललाटम् ।

परं त्वहं तु क्रममेव मन्ये,  
परःसहस्रांघ्न मनोनिवासात् ॥११॥

कुछ व्यक्ति आपके हृदय को विशाल बताते हैं, कुछ आपके मन को और कुछ आपके सुन्दर ललाट को । किन्तु देव ! मैं तो आपके चरणों को ही विशाल मानता हूँ जहाँ कि हजारों-हजारों व्यक्तियों के मन निवास करते हैं ।

वाणी पवित्रं विदधाति कर्णं,  
स्तुती रसज्ञां नयनं च मूर्तिः ।  
परं तु सर्वोत्तममुत्तमाङ्गं,  
पुनाति पुण्यश्चरणस्तवासी ॥१२॥

देव ! आपकी वाणी कानों को, स्तुति जिह्वा को और दर्शन आंखों को पवित्र करता है । किन्तु सभी अंगों में उत्तम सिर को पवित्र करने वाले तो आपके चरण ही हैं ।

उदारताप्यस्य मुदा प्रशस्या,  
स्वयं प्रयासं बहुलं सहित्वा ।  
शान्तिं परस्मै वितरत्यनुच्छां,  
ततो हि पूतं धरिणीतलञ्च ॥१३॥

इन चरणों की उदारता भी भूरि-भूरि प्रशंसनीय है । ये स्वयं बहुत आयास सहन करके दूसरों को विपुल शांति प्रदान करते हैं । इसीलिए यह पृथ्वीतल इनसे पवित्र हो रहा है ।

आभ्यन्तरध्वान्तहरं प्रकाशं,  
सौम्यं निरङ्कं त्रसनं निपक्षम् ।  
बुद्धिं च विद्यां परमाप्तगन्त्रीं,  
नीतिं पवित्रां दमनं निखर्वम् ॥१४॥

भास्वान् हिमांशुर्महिजो बुधश्च,  
गुरुः कविः शौरिरिमेऽनुसंख्यम् ।  
सप्ताऽपि वारा इह बद्धवारा-  
स्त्वां यान्ति पूर्वोदितमाप्तुकामाः ॥१५॥

सातों बार जिज्ञासु होकर बारि-बारि से तुम्हारे सामने प्रस्तुत हो रहे हैं—

१. सूर्य—आन्तरिक अन्धकार को नष्ट करने की कला का जिज्ञासु ।
२. सोम—निष्कलंक सौम्य की कला का जिज्ञासु ।
३. मंगल—पक्षपातशून्य वास की कला का जिज्ञासु ।
४. बुध—बुद्धि का जिज्ञासु ।
५. गुरु—अध्यात्म विद्या का जिज्ञासु ।
६. शुक्र—पवित्र नीति का जिज्ञासु ।
७. शनि—तुच्छता-रहित दमन-कला का जिज्ञासु ।

मतिश्रुतज्ञानयुतस्त्वमीश !,  
 श्रीकेवलज्ञानयुतोऽहमस्मि ।  
 त्वं वेत्सि भावान् विविधान् विशिष्टान्,  
 त्वामेवजानाम्यहमात्मरूपम् ॥१६॥

देव ! आप मति और श्रुत ज्ञान के धनी हैं इसीलिए आप विविध भावों—  
 अनेक शिष्यों को देखते हैं । मैं केवलज्ञान—एक ज्ञान से युक्त हूँ, अतः मैं केवल  
 आपको ही देखता हूँ ।

प्रतिक्षणं त्वां च निरीक्षमाणः,  
 स्म केवलज्ञानयुतो भवामि ।  
 स्यान्नान्तरायो नियमस्त्वयेति  
 सिद्धान्तसिद्धः प्रतिपालनीयः ॥१७॥

केवली का ज्ञान अबाधित और निरन्तर होता है । मैं इसीलिए केवलज्ञान  
 से युक्त हूँ कि मैं प्रतिक्षण आपको देखता रहता हूँ । इसमें कहीं अन्तराय न आए  
 इसलिए सिद्धान्त-सिद्ध इस नियम का आपको पालन करना है ।

## ४ : सिद्धस्तवनम्

नाथ ! मयि कुरु करुणादृष्टिं, दर्शयानन्दमयीं सृष्टिम् ॥

जगति परितोऽपि भाति कष्टं, क्वापि नानन्दपदं दृष्टम् ।  
 मोहमणिमारुणिमाकृष्टं, मानसं मुग्धमिदं स्पष्टम् ।  
 परमेश्वरपरमौषधं, शान्तिमयं प्रविदाय,  
 संहर संहर मोहरुजं मे, प्रयते तेन हिताय,  
 आयतो प्रणये तव सृष्टिम् ॥१॥

शमथपोयूषरसं पीत्वा, वासनां विषययुतां हित्वा ।  
 नन्दनां चिद्रूपां नीत्वा, मोहरिपुमेव भटिति जित्वा ।  
 वीतरागपदमुज्ज्वलं, स्वात्मगुणौज्ज्वल्येन,  
 केवलकमलालितं कलितं, शुक्लध्यानबलेन ।  
 येन तत्रैसि सदा हृष्टिम् ॥२॥

यत्र नो जन्मजरामरणं, नो भयं नैव शोककरणम् ।  
 विद्यते किञ्चिन्नावरणं, लोक्यते निखिलजनाचरणम् ।  
 तत्तव मन्दिरमद्भुतं, द्रष्टुं लोलुप एव,  
 लौकिकसदननिभालनमुहितो, धृत्वाहं स्वयमेव,  
 देव ! तव नाममयीं यष्टिम् ॥३॥

अक्षयं विगतरुजं स्थानं, ज्योतिरुज्ज्वलितं ह्यम्लानम् ।  
 किन्तु नो सन्निहितं यानं, स्याद् यतो मे हि तत्र यानम् ।  
 उन्नतशाखामाश्रितस्तव करुणोर्विरुहस्य,



यायां मातृमहिं सुमनोज्ञां, स्वामिन् ! शिवनगरस्य,  
शस्यगुण ! देहि तदाकृष्टिम् ॥४॥

असकृदुत्पादयते सेहं, विकृतयत्यनुत्तरं देहम् ।  
कहिंचित् सिञ्चति सस्नेहं, कहिंचिच्छोषयते गेहम् ।  
आकण्ठं खिन्नोऽभवं, कर्मकृषककार्येण,  
सामर्थ्यं पुनरुद्भवनस्य, स्यान्नष्टं भुवने न,  
येन मयि कुरु तादृग्वृष्टिम् ॥५॥

केवलं मृगतृष्णाक्रान्तस्तत इतो भूरितरं भ्रान्तः ।  
प्रचुरतरसुखलिप्साक्लान्तः क्वापि नाहं भगवन् श्रान्तः ।  
संप्रति तव चिञ्चेतसा, मैत्रीं प्रमुदां वाप्य,  
चिदानन्दरूपे रज्येहं, तृष्णामपि च समाप्य,  
प्राप्य तव मन्दिरे प्रविष्टिम् ॥६॥

त्वमसि मे प्राणधनं स्वामी, त्वमसि मे ह्यदयान्तर्यामी ।  
त्वामहं न यथा विभजामि, तादृशीं वाञ्छां विदधामि ।  
युष्मदष्मदोरन्तरं दूरं सपदि सृजामि,  
त्वमिति रूपमहं नथमल्लस्त्वयि मिलितोनुभवामि,  
यामि तामेवपरामृष्टिम् ॥७॥

भगवन् ! तुम मेरे पर करूणा-दृष्टि करो और मुझे आनन्दमय सृष्टि दिखाओ ।

जगत् में चारों ओर कष्ट हैं, कहीं आनन्द नहीं दीख रहा है । यह मन मोह की महिमा की अरुणिमा से आकृष्ट है और स्पष्टतया उसी में मूढ़ है । प्रभो ! तुम मुझे शांति प्रदान करने वाली, परम ईश्वररूपी उत्कृष्ट औषध देकर मेरे मोह रोग को नष्ट कर डालो ताकि मैं अपने आत्म-हित के लिए प्रयत्न कर सकूँ और भविष्य में तुम्हारे अनुशासन का पालन कर सकूँ ।

उपशमरूपी अमृतरस को पीकर, विषय-संपृक्त वासना को छोड़कर, चिद्रूप आनन्द को प्राप्त कर तथा मोह-शत्रु को शीघ्र ही जीतकर मैं आत्मगुणों की

उज्ज्वलता से निष्पन्न शुक्लध्यान के बल से केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी से ललित और निष्पन्न परम उज्ज्वल पद को प्राप्त करूँ, जिसके द्वारा तुम सदा आनन्द को प्राप्त करते हो।

भगवन् ! तुम्हारा स्थान अद्भुत है। वहाँ जन्म, जरा, मरण, द्वन्द्व, शोक और आवरण नहीं है। तुम समस्त व्यक्तियों के आचरणों को देखते हो। देव ! मैं लौकिक सदनों को देख-देख कर तृप्त हो चुका हूँ। अब मैं तुम्हारी नाम-रूपी यष्टि को स्वयं हाथ में धारण कर उस विचित्र सदन को देखने के लिए लालायित हूँ।

देव ! तुम्हारा स्थान अक्षय, अरुज, ज्योतिर्मय, उज्ज्वल और अम्लान है किन्तु मेरे पास कोई ध्यान नहीं है जिससे कि मैं वहाँ पहुँच सकूँ।

तुम्हारे करुणारूपी वृक्ष की उन्नत शाखाओं पर आरूढ़ होकर मैं शिवपुरी की भूमि पर चला जाऊँ। हे शस्यगुण ! उस ओर जाने का मुझे आकर्षण दो।

देव ! ये कर्म बहुत बार मेरे में आकांक्षा पैदा करते हैं और मेरे शरीर को बार-बार विकृत कर देते हैं। ये कर्म कभी मुझ में सत् स्नेह का सिचन करते हैं तो कभी मेरे समूचे घर का ही शोषण कर देते हैं। देव ! मैं इन कर्म-रूपी कृषक के कार्यों से आकंठखिन्न हो गया हूँ। हे भुवनेश ! पुनर्जन्म का सारा सामर्थ्य नष्ट हो ऐसी वृष्टि मुझ पर करो। देव ! मैं केवल मृगतृष्णा से आक्रान्त होकर इधर-उधर घूमता रहा हूँ। सुख की प्रचुर लिप्ता से क्लान्त मैंने कहीं भी विश्राम नहीं पाया।

भगवन् ! अब मैं तुम्हारे चिन्मय चित्त के साथ प्रमोदभाव से मैत्री कर, समस्त तृष्णाओं को समाप्त कर तुम्हारे मंदिर में प्रवेश पाकर तुम्हारी आत्मा के चिदानन्द स्वरूप में अनुरक्त हो जाऊँ।

देव ! तुम मेरे प्राणधन हो। तुम मेरे हृदय के अन्तर्यामी हो। मैं तुमसे भेद न करूँ—ऐसी वांछा करता हूँ। 'मैं' और 'तुम'—इस अन्तर को दूर करूँ। मैं तुममें मिलकर 'मैं' 'तुम' ही हूँ—ऐसा अनुभव करूँ। प्रभो ! मैं ऐसा ही परामर्श प्राप्त करूँ।

(वि० सं० १९९९ चातुर्मास, चूरु)

## ५ : भिक्षुगुणोत्कीर्तनम्

(मल्हाररागेण गीयते)

सुरतरुमिव कामितदातारं, दातारं जगदाधारम् ।  
सततं स्मृतिपथमायातमपि, त्वां स्मरामि भगवन्नधुना,  
नय नावं मे भवजलपारम् ॥

विद्वानेव प्रभो ! तव सद्गुणगरिमाणं जानाति ।  
गोपालः खलु मणिमहिमानं, न च कथमप्यनुमाति ।  
प्रतिपलममलमहं त्वत्स्तवनं, हृदि विदधे मालाकारम् ॥१॥

अङ्किता हि हृदये सकला अपि, सन्ति गुणास्तव देव ! ।  
किन्तु न शक्तः स्यामङ्कयितुं, वाक्पत्रे तानेव ।  
किञ्च कोपि मनुजो घटमध्ये, प्रक्षिपेत् पारावारम् ॥२॥

इयं रसज्ञा तदपि हि तव गुणगानरसं विज्ञाय ।  
चरितार्थी कुरुतान्निजसंज्ञामज्ञानं च विहाय ।  
इति भावनया कुर्वे स्वामिन् ! मुदितमना इह संचारम् ॥३॥

काञ्चनसानुमतस्तुलनायां, कोन्यो गिरिरायाति ?  
रविमण्डलकिरणावलिपुरतस्तेजस्वी को भाति ?  
आत्मबलाढ्यजनानां मध्ये, कुर्वे प्राक् तव सत्कारम् ॥४॥

अज्ञजनैर्निन्दामयवाचा सङ्गीतं यदधीश ! ।  
तत्तव नाम मनोहरमद्य, स्तुतिमयमस्ति मुनीश ! ।  
भिल्ल्यौज्झितमपि मौक्तिकमच्छं तज्ज्ञजनानां स्यात्सारम् ॥५॥

वीरतुलामधिरोढुं सम्यक्, त्वं चार्हसि दैपेय ! ।  
 साधुसमाजे स्थापितसीमन् ! कष्टप्रकराजेय ! ।  
 एतावेव गुणौ कुर्वति, तव सर्वत्राप्यधिकारम् ॥६॥  
 चित्रकारिणी प्रतिभा तव तद्, विहिता सङ्कलनास्थ ।  
 सकलविपश्चिच्चेतसि रमतामित्याशासे नाथ ! ।  
 मोदेऽहं नथमल्लः शिरसा, तां च सदा धारं धारम् ॥७॥

प्रभो ! तुम कल्पवृक्ष की भांति मनोकामना पूर्ण करने वाले हो। तुम दाता और जगत् के आधार हो। तुम सदा मेरे स्मृति-पथ में बने रहते हो। फिर भी आज मैं तुम्हारी स्मृति कर रहा हूँ। देव ! तुम मेरी नौका को भव-पार पहुंचा दो।

विभो ! तुम्हारे सद्गुणों की गरिमा को विद्वान् ही जानता है। ग्वाला मणि की महिमा का अनुमान कैसे करेगा ? मैं तुम्हारे पवित्र स्तवन को हृदय में माला के रूप में धारण करता हूँ।

देव ! तुम्हारे सभी गुण मेरे हृदय में अंकित हैं। किन्तु मैं उन गुणों को वाणी के पत्र में अंकित नहीं कर सकता। क्या कोई मनुष्य घड़े में समुद्र को भर सकता है ? नहीं। तो भी यह जिह्वा तुम्हारे गुणगान के रस को जानकर अज्ञान को छोड़, 'रसज्ञा' इस प्रकार की अपनी संज्ञा (नाम) को चरितार्थ करे। स्वामिन् ! प्रसन्न होकर मैं इसी भावना से यहां (तुम्हारे स्तुति-लोक में) संचरण कर रहा हूँ।

मेरु पर्वत की तुलना में दूसरा कौन-सा पर्वत आ सकता है ? सूर्य-मंडल की किरणों के सामने कौन तेजस्वी जान पड़ता है ? आत्मबल से सम्पन्न व्यक्तियों में मैं पहले तुम्हारा सत्कार करता हूँ। हे अधीश ! अज्ञानी व्यक्तियों ने निन्दामय वचनों के द्वारा तुम्हारे लिए जो कुछ्छ कहा है, वही तुम्हारा नाम आज सुन्दर और स्तुतिमय हो रहा है। भीलनी के द्वारा त्यक्त निर्मल मोती, उसके मूल्य को जाननेवाले के लिए सारभूत हो जाता है।

दैपेय ! तुम भगवान् महावीर की तुलना में आ सकते हो। हे साधु समजा में मर्यादा की स्थापना करने वाले ! हे कष्ट से अजेय !—ये तुम्हारे दो गुण (मर्यादा का निर्माण और कष्ट-सहिष्णुता) सर्वत्र अधिकार किए हुए हैं।

प्रभो ! तुम्हारी प्रतिभा विलक्षण थी। तुम्हारे द्वारा संकलित वाणी सभी विद्वानों के चित्त में रमण करे, यही मैं आशा करता हूँ। मैं उस वाणी को सदा अपने सिर पर धारण करता हुआ प्रसन्न रहता हूँ।

(वि० सं० १९९९, चातुर्मास, चूरु)

## ६ : कालूकीर्त्तनम्

(पञ्चटिकावृत्तानि)

श्रीमज्जिनशासनभर्त्तारं भैक्षवगणवीवधधर्त्तारं ।  
जिनपतितुल्यं पुण्याधारं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥१॥  
हृतनिजतेजस्कारुणकान्ति वदनाम्भोजे राजितशान्तिम् ।  
दुःखितदेहभृतां विश्रामं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥१॥  
सुरतरुतोप्यधिकं दातारं, निकटीकृतभवसागरपारम् ।  
तनुसौन्दर्यैस्तजितकामं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥२॥  
श्रुतमेवं कर्त्ता स्यादन्यस्त्राताप्यपरो विदुषा ध्वन्यः ।  
नाशयिताप्यपरोस्ति प्रकामं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥३॥  
स्वामिन्निति लोकोक्तिःस्फीता, सा त्वयका विहिता विपरीता ।  
त्वयि शक्तित्रयमस्ति निकामं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥४॥  
श्रेयान्स्युत्पादयसे विरतं, दुःखाद् रक्षसि संसृतिविरतम् ।  
नाशयसे कर्मण्यविरामं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥५॥  
गुरुवर्यं समतामृतपीनं, नथमल्लोर्हृत्पट्टासीनं ।  
हर्षति सुतरां नामं नामं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥६॥

श्रीजिनशासन के स्वामी, भैक्षव गण के भार को धारण करने वाले, जिनपति के सदृश तथा पुण्य के उपवन श्री कालूगणी का तुम सदा स्मरण करो ।

उन्होंने अपने तेज से सूर्य की कान्ति का हरण किया है । उनके मुख-कमल पर शांति विराजित है । वे दुःखी प्राणियों के लिए विश्रामस्थल हैं, तुम सदा उनका स्मरण करो ।

वे कल्पवृक्ष से भी अधिक देने वाले हैं। वे भवसागर को पार करने के निकट पहुंच चुके हैं। उन्होंने अपने शारीरिक सौन्दर्य से कामदेव को भी लज्जित कर दिया है। तुम सदा उनका स्मरण करो।

ऐसा सुना है कि कोई एक व्यक्ति कर्ता होता है, दूसरा त्राता और तीसरा नष्ट करने वाला।

स्वामिन् ! यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। किन्तु तुमने इसे अन्यथा कर डाला है। तुममें ये तीनों शक्तियां—कर्तृत्व, रक्षण और नाश—विद्यमान हैं। प्राणियो ! तुम सदा उनका स्मरण करो।

तुम कल्याण उत्पन्न करते हो। जो संसार से विरक्त हैं उन्हें दुःख से बचाते हो और अपने कर्मों का अविराम नाश करते हो। भव्यो ! तुम सदा उनका स्मरण करो।

समता के अमृत से पुष्ट, अर्हत् पट्ट पर आसीन गुरुदेव को बार-बार वंदना करता हुआ मैं प्रमुदित होता हूँ। तुम सदा उनका स्मरण करो।

## ७ : श्रीतुलसीस्तवः

(पालय पालय रे—इति रागेण)

तुलसीस्वामिस्ते महिमा सुतरां गेयः ॥

कल्पनया स्तवनां तव भगवन् ! विदधति मुनयोऽनन्याम् ।  
किन्तु करिष्ये वस्तुतयाऽहं, पुण्यामनुभवजन्याम् ॥१॥

एक एव भगवानिह समये, तत्त्वविवेचनकर्त्ता ।  
त्वं त्रिभुवनसंसृतशुभकीर्तिर्भैक्षवशासनभर्त्ता ॥२॥

एको वक्ता द्वैतीयोक्तः, स्याद्वादाश्रययुक्तिः ।  
निजतरसाप्यविलंघ्यश्चक्री, चक्रयुतस्य किमुक्तिः ॥३॥

हृत्ताव योगाल्लघुभूतं कृतकर्मकविविधवियोगम् ।  
उपकृत्या विहितं गुरु तेनाऽमुक्तचरणसंयोगम् ॥४॥

निपुणजनेभ्यो बोधं दातुं, निपुणगणो बहुरस्ति ।  
मत्सन्निभबालाय तु भगवन्नस्ति तवैव प्रशस्तिः ॥५॥

चित्रं मुनिनथमल्लः कृतवान्, साहसमेतमपारम् ।  
वर्णवचनगणनातीतं ते, गातुमतुलमुपकारम् ॥६॥

हे तुलसी स्वामिन् ! तुम्हारी महिमा नितान्त गेय है। भगवन् ! कल्पना से अनेक मुनि तुम्हारी स्तवना करते हैं। किन्तु मैं अपने अनुभवों से उद्भूत, कल्याणकारी और यथार्थ तथ्यों से तुम्हारी स्तवना करूंगा।

भगवन् ! वर्तमान में तुम ही एक तत्त्व-विवेचक, तीनों लोकों में विस्तृत शुभकीर्तिवाले और भैक्षव-शासन के पालक हो।

तुम एक तो वक्ता हो और दूसरे में तुम्हारे पास स्याद्वाद की प्रबल युक्ति है। चक्रवर्ती अपने बल से ही अजेय होता है। उसके हाथ में चक्र हो, फिर तो कहना ही क्या ?

आपके योगसे मेरा हृदय विविध कर्मों का क्षय कर लघु हो गया किन्तु आपके उपकार ने उसे पुनः गुरु बना दिया। इसीलिए उसके चरण भूमि पर टिके हुए हैं।

निपुण व्यक्तियों को प्रतिबोध देने के लिए अनेक निपुण लोग हैं, किन्तु मेरे जैसे बालक को प्रतिबोध देने के लिए तो भगवन् ! तुम्हारी ही प्रशस्ति गायी जाएगी।

मैंने तुम्हारे वर्णनातीत, वचनातीत और गणनातीत उपकार को गाने के लिए ( इस स्तवना के माध्यम से ) अपार साहस किया है।

••



## मुनि नथमल

**जन्म** : आषाढ कृष्णा १३, वि० सं० १६७७,  
विष्णुगढ़ (राजस्थान)

**दीक्षा** : माघ शुक्ला १०, वि० सं० १६८७,  
सरदारशहर (राजस्थान)

### लेखक की प्रमुख कृतियां

‘जैन दर्शन : मनन और मीमांसा’, ‘अहिंसा तत्त्व दर्शन’, ‘मै : मेरा मन : मेरी शान्ति’, ‘संबोधि’, ‘तट दो : प्रवाह एक’, ‘नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण’, ‘अनुभव : चिन्तन : मनन’, ‘समस्या का पत्थर : अध्यात्म की छेनी’, ‘जैन धर्म : बीज और बरगद’, ‘बन्दी शब्द : मुक्त भाव’, ‘गूँजते स्वर : बहरे कान’, ‘चेतना का ऊर्ध्वारोहण’, ‘अस्तित्व का बोध’, ‘अणुव्रत दर्शन’, ‘महावीर क्या थे’, ‘आचार्यश्री तुलसी : जीवन और दर्शन’, ‘श्रमण महावीर’, ‘नास्ति का अस्तित्व’, ‘नैतिक पाठमाला’, ‘भिक्षु विचार दर्शन’, ‘निष्पत्ति’, ‘विसर्जन’, ‘महावीर की साधना का रहस्य’, ‘अतुला तुला’ आदि-आदि ।

